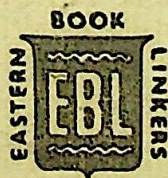


विज्ञानभिक्षुप्रणीतः  
योगसारसंग्रहः

डॉ० पवन कुमारी



ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली

::

(भारत)







202  
विज्ञानभिक्षुप्रणीतः

# योगसारसंग्रहः

(मूल, हिन्दी अनुवाद एवं विस्तृत व्याख्या सहित)

डॉ० पवन कुमारी

प्राक्कथन

डॉ० वाचस्पति उपाध्याय

रीडर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-७

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली-७

©ईस्टर्न बुक लिंकर्स

५८२५, न्यू चन्द्रावल रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७

प्रथम संस्करण : १९८१

मुद्रक :

ओरियन्ट आफसेट

199/5, चौधरी ब्रह्मसिंह मार्ग, मोज पुर, दिल्ली-110053



**YOGA-SĀRA-SANĠRAHA**  
OF  
**VIJÑĀNA-BHIKᡢU**

With Original Text, Hindi Translation & Explanatory Notes

**Dr. Pavan Kumari**

Foreword by :  
**Dr. Vachaspati Upadhyaya**  
Reader, Sanskrit Department  
Delhi University, Delhi-7

**Eastern Book Linkers**  
DELHI :: (INDIA)

*Published by :*

**EASTERN BOOK LINKERS**

5825, New Chandrawal Road, Jawahar Nagar, Delhi-110007

First Edition : 1981

Price Rs. ~~2.00~~

*Printed by :*

**ORIENT OFFSET, 199/5, Ch. Bham Singh Marg,  
Mozpur, Delhi-110153.**



## FOREWORD

*Yoga* is regarded as one of the most ancient and striking thought complex of our seers and savants. Yoga Philosophy represents in itself two inter-related parts—the first being the philosophical speculation supported by cogent logic and second one depicting a set of code to be practiced for the verification of that which has been obtained through the theory. Treatises on yoga treat both of them with equal fervour. The early writings on *Yoga*, however, do not put forth the doctrines of *Yoga* in a systematic form which for depth analysis of the subject may be kept at par with Patañjali's *Yoga-Sūtra*.

According to Prof. Das Gupta Patañjali was probably the most notable person for he not only collected the different forms of *Yoga* practices and gleaned the diverse ideas which were or could be associated with the *Yoga*, but grafted them all on the *sāṃkhya* metaphysics and gave them the form in which they have been handed down to us.

It is because of its matter and manner, that it attracted the attention of both ancient and modern thinkers for deep, critical and creative studies. According to Vācaspati Mishra and Vijñāna Bhikṣu Patañjali is the editor of *Yoga* and not the founder. The most authentic commentary of Patañjali's *Yoga-Sūtra* is called *Yoga-Bhāṣya* or *Vyāsa-Bhāṣya*, has been commented upon by *Vācaspati Mishra* and *Vijñāna Bhikṣu* in commendable and authoritative manner.

Vijñānabhikṣu was a prolific writer and has to his credit a number of works. His *YOGA-SĀRA-SAṆGRAHA* is a useful text on the Philosophical speculations of Yoga School of Indian Philosophy. It is based on his magnum opus *Yoga-Vārtika* which is regarded as a standard exposition of *Vyāsa Bhāṣya* and takes into consideration the technical terms and techniques of *Yoga* with commendable precision. It would be quite in the



fitness of things to mention here, in brief, some of his observations on Yogic terms.

Vijñāna Bhikṣu hits off correctly the scope and spirit of the system in the third section of his *Yoga-Sāra-Saṅgraha*, when he says that some account of these extraordinary attainment is necessary in order to enable the devotee to see that they have no proper place in the spiritual life.

Vijñāna Bhikṣu's comments on Īśvara-Pranidhāna seem to refer to the development of worship in general and in support of this he quotes a verse from *smṛti*, where it has been mentioned, "In the early stages of Yoga, God is to be contemplated as wearing form, and only afterwards should be meditated on as being bodyless. For the mind is to be led slowly to the contemplation of the subtle, after it has been sufficiently practised in contemplating what may be perceived by the senses."

Vijñāna Bhikṣu observes that though mind is endowed with the faculty of understanding the most difficult things, it fails to do so because of the intrusion of irrelevant matters. He attaches little importance to *Vitarka* (reasoning) and *Vicāra* (reflection), which however, are supposed to play a vital role in the apprehension of the highest truth. Vijñāna Bhikṣu's elucidation of the concept of *Vairāgya* also deserves mention. To him *Para-Vairāgya* is a distaste for the good things of life because of the experience that they are attained after putting in enormous efforts and their loss causes pain. Vijñāna Bhikṣu seems to be the first commentator who explains the fourfold classification of *Apara-Vairāgya*:

Similarly, to Vijñāna Bhikṣu *Viśoka* implies that this contemplation wards off all wear and tear. According to him out of its two forms, one has the thinking principle for its object while the other focusses Intelligence.

तृतीयं परिकर्मं विशोका ज्योतिष्मती । । ततः शोको यस्यामिति विशोका । ज्योतिष्मती च द्विविधा प्रकृतिबुद्धिसाक्षात्कारो विविक्तपुरुषसाक्षात्कारश्च ।

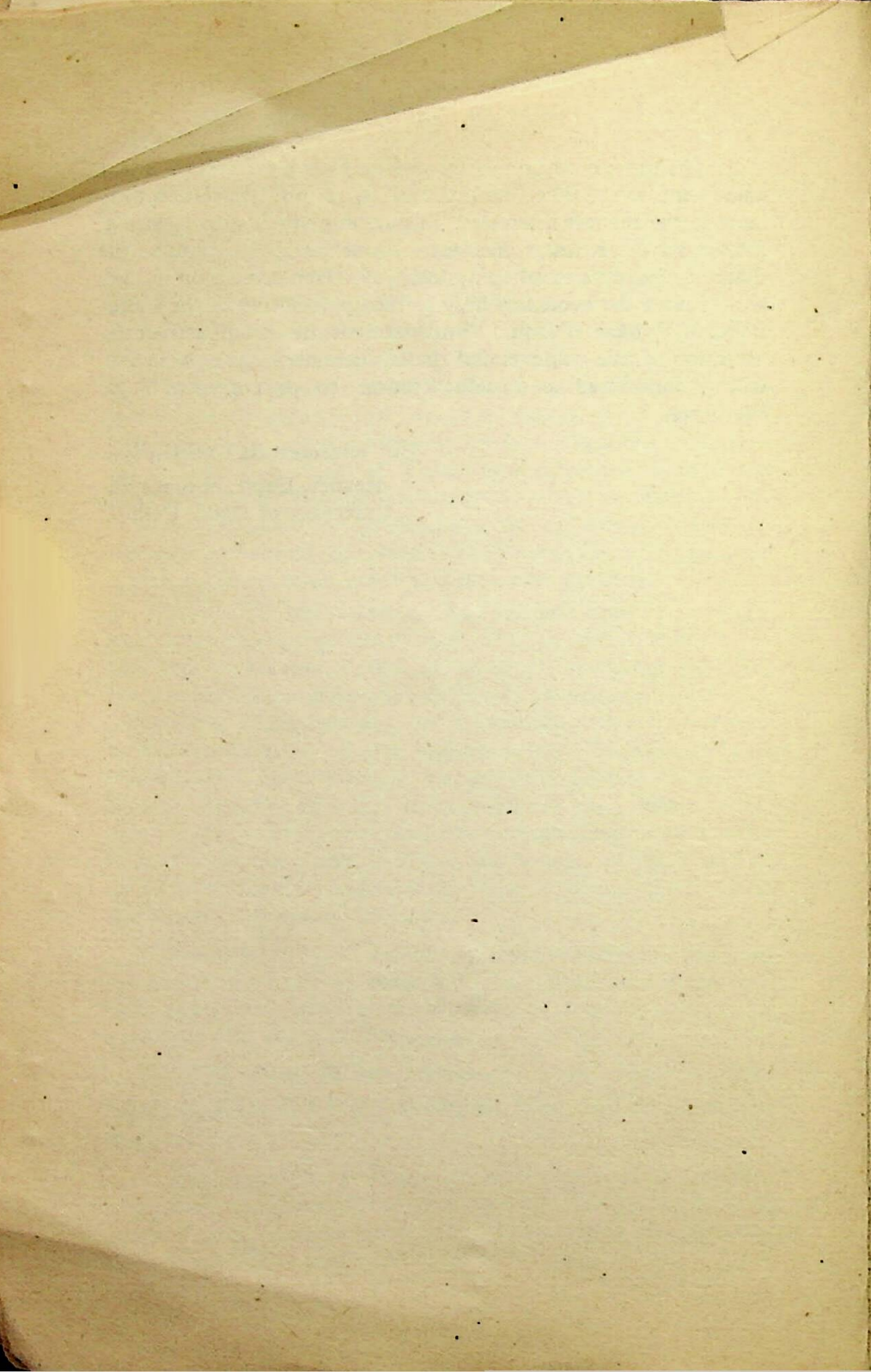
Both in matter and in manner his works marked a distinct departure from those of his predecessors. The keenness of his insight and the soundness of his critical acumen combined to stamp him with an individuality all of his own.



The present edition of Dr. (Miss) Pavan Kumāri is a welcome venture to make the text and its Hindi translation available to the readers interested in pursuing studies in Yoga. Dr. (Miss) Pavan Kumāri has also taken pains to explain the difficult concepts in an analytical way. Her exposition in fact, will provide the necessary fillip to the appreciation of the standpoint of Vijñāna Bhikṣu. I am confident that it will attract the attention of the students and the teachers of Yoga System and will be considered as a useful edition to the corpus of Yoga literature.

**Dr. Vachaspati Upadhyaya**

Reader, Deptt. of Sanskrit,  
University of Delhi, Delhi-7





## विषयसूची

मूलग्रन्थ

प्रथमोऽंशः

योगस्वरूपभेदाः

विषयाः	पृष्ठ
१. मंगलाचरणम्	१
२. योगलक्षणम्	१
३. वृत्तयः	१-२
४. निरोधः	२
५. योगस्य स्वरूपं भेदाश्च	२-३
६. योगफलम्	३-४
७. सम्प्रज्ञातस्य चातुर्विध्यम्	५-८
८. सम्प्रज्ञातयोगिनः चतुर्भूमिकाः	८-९
९. असम्प्रज्ञातयोगस्य द्विविधत्वम्—उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च	९-१०
१०. ईश्वरस्वरूपविचारः	१०
११. कैवल्यस्वरूपम्	११

द्वितीयोऽंशः

योगसाधनानि

१. योगाधिकारिणां त्रिविधत्वम्	१२
२. अभ्यास-वैराग्यम्	१२-१४
३. परिकर्मस्वरूपविचारः	१४-१५
४. क्रियायोगः तत्फलं च	१६-१६
५. अष्टांगयोगः	१६
६. यमनियमौ	१६-२१
७. आसनम्	२१
८. प्राणायामः	२१-२४
९. प्रत्याहाराः	२४

१०. धारणा	२४
११. ध्यानम्	२४-२५
१२. समाधिः	२५
१३. योगाङ्गेषु उद्धरणानि	२५-२८

### तृतीयोऽंशः

#### योगसिद्धिभिरूपणम्

१. संयमसिद्धिभिरूपणस्य प्रयोजनम्	२६
२. आत्मसाक्षात्काररूपा सिद्धिः	२६-३०
३. ग्राह्यसंयमस्य सिद्धयः	३०-३२
४. ग्रहणसंयमस्य सिद्धयः	३२
५. ग्रहीतृसंयमस्य सिद्धयः	३२-३३
६. सिद्धिप्रकारः	३३-३४
७. जन्मीषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः	३४

### चतुर्थोऽंशः

#### कैवल्यादिभिरूपणम्

१. कैवल्यस्य स्वरूपं प्रकारश्च	३५
२. दर्शनान्तरेषु प्रतिपादितं मोक्षस्वरूपम्	३५-३६
३. स्फोटः	३७-३८
४. मनोवैभवम्	३८-३९
५. कालभिरूपणम्	३९



# हिन्दी अनुवाद

## प्रथम अंश

### योगस्वरूप एवं भेद

१. मंगलाचरण	४०
२. योगलक्षण	४०-४२
३. वृत्तियां	४२
४. निरोध	४२-४३
५. योग का स्वरूप एवं भेद	४३-४४
६. योगफल	४४-४६
७. सम्प्रज्ञात योग के भेद	४६-५०
८. सम्प्रज्ञात योगियों की भूमिकाएँ	५०-५१
९. असम्प्रज्ञातयोग के भेद—उपायप्रत्यय, भवप्रत्यय	५१-५३
१०. ईश्वरस्वरूप विमर्श	५२
११. कैवल्यस्वरूप	५४

## द्वितीय अंश

### योग-साधन

१. योगाधिकारियों का त्रैविध्य	५५
२. अभ्यास-वैराग्य	५५-५८
३. परिकर्मस्वरूपविचार	५८-६०
४. क्रियायोग एवं उसका फल	६०-६५
५. अष्टांगयोग	६५
६. यम एवं नियम	६५-६६
७. आसन	६७
८. प्राणायाम	६७-६८
९. प्रत्याहार	६८-६९
१०. धारणा	७०
११. ध्यान	७०

१२. समाधि	७०-७२
१३. योगांग विषयक उद्धरण	७२-७४

### तृतीय अंश

#### योगसिद्धिनिर्ूपण

१. संयमसिद्धि निर्ूपण का प्रयोजन	७५
२. आत्मसाक्षात्काररूपा सिद्धि	७५-७७
३. ग्राह्यसंयमजन्य सिद्धियां	७७-७९
४. ग्रहणसंयमजन्य सिद्धियां	७९
५. ग्रहीतृसंयमजन्य सिद्धियां	७९-८०
६. सिद्धिप्रकार	८०-८२
७. जन्मोषधमन्त्रतपसमाधिजन्य सिद्धियां	८२

### चतुर्थ अंश

#### कैवल्यादि निर्ूपण

१. कैवल्यस्वरूप एवं प्रकार	८३
२. अन्य दर्शनों में प्रतिपादित मोक्ष का स्वरूप	८३-८५
३. स्फोट	८५-८७
४. मनोवैभव	८७-८९
५. कालनिर्ूपण	८९-९०

### व्याख्या भाग

प्रथम अंश	९१-१०४
द्वितीय अंश	१०५-१११
तृतीय अंश	११२-११६
चतुर्थ अंश	११७-१२३
अनुक्रमणी	१२४-१२७



## भूमिका

योगदर्शन से सम्बन्धित उपलब्ध प्रकाशित साहित्य में गूढ़ विषयों को सुबोध शैली में प्रस्तुत करने का स्तुत्य श्रेय १६वीं शताब्दी के विद्वान् विज्ञानभिक्षु को है। पातञ्जल-सूत्रों पर कृत योगवार्त्तिक नाम से प्रसिद्ध इनकी व्याख्या विद्वानों के समाज में चिरकाल से समादृत है। इनकी समस्त कृतियों का प्रामाणिक संस्करण एवं उनका अनुवाद यद्यपि अभी तक उपलब्ध नहीं है तथापि इनके मन्तव्यों का उल्लेख प्राच्य एवं प्रतीच्य विद्वानों के द्वारा किया गया है।

योगवार्त्तिक व्यासभाष्य के अतिरिक्त तत्त्वदैधारदी के भी शास्त्रीय स्थलों का पर्यालोचन है परन्तु विज्ञानभिक्षु ने इस व्याख्या की गहनता को ध्यान में रखते हुए साधारण पाठकों की दृष्टि से इस दर्शन के विषय को उपादेय बनाने के लिए योगसारसंग्रहः नामक ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ का उल्लेख उन्होंने मंगलाचरण के श्लोकों में किया है। विज्ञानभिक्षु के मत में योग के अमृतरूपी सार को उन्होंने इस ग्रन्थरूपी घट में पर्याप्त ग्रन्थन के बाद प्रस्तुत किया है। अमृत-सार प्राप्ति की प्रक्रिया में योगवार्त्तिक को अचलदण्ड के तथा योग के विस्तृत बाङ्गमय को सागर रूप में स्वीकार किया है।

वस्तुतः इस ग्रन्थ के पर्यालोचन से ग्रन्थकारकृत संकल्प सर्वथा उचित प्रतीत होता है क्योंकि इन्होंने योग-दर्शन विषयक किसी भी गूढ़ सिद्धान्त का प्रतिपादन दुर्गम एवं दुबोध शैली में नहीं किया है।

यहाँ ग्रन्थकार की अन्य रचनाओं एवं प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है जिसके द्वारा ग्रन्थ की उपादेयता को जाना जा सकेगा।

रचनाएं—

विज्ञानभिक्षु ने सांख्य, योग एवं वेदान्त तीनों ही प्रमुख दर्शनों पर टीकाएँ लिखी हैं। इनके प्रामाणिक ग्रन्थों की एक सूची हमें आपरेकट के कैटेलागस कैटेलाग-रम से प्राप्त होती है जिसमें ग्रन्थों का क्रम निम्नरूप में उल्लिखित है—

१. आदेशरत्नमाला—इसे उपदेशरत्नमाला भी कहते हैं।
२. ईश्वरगीताभाष्यम्
३. कठबल्युपनिषदालोकः
४. कैवल्युपनिषदालोकः
५. पातञ्जलभाष्यवार्त्तिकम् या योगवार्त्तिकम्
६. प्रश्नोपनिषदालोकः

७. ब्रह्मादर्शः
८. भगवद्गीताटीका
९. माण्डूक्योपनिषदालोकः
१०. मुण्डकोपनिषदालोकः
११. मैत्रेय्युपनिषदालोकः
१२. योगसारसंग्रहः
१३. विज्ञानामृतम् या ब्रह्मसूत्र-ऋजु व्याख्या
१४. वेदान्तालोकः
१५. श्वेताश्वतरोपनिषदालोकः
१६. सांख्यकारिकाभाष्यम्
१७. सांख्यप्रवचनभाष्यम्
१८. सांख्यसारविवेकः

इन उपरिवर्णित ग्रन्थों में से कुछ ही प्रकाशित हो पाये हैं, अन्य अप्रकाशित हैं। निम्न सूची में प्रकाशित एवं अप्रकाशित ग्रन्थों की तालिका दी जा रही है—

#### प्रकाशित ग्रन्थ—

१. विज्ञानामृतभाष्यम्
२. योगवात्तिकम्
३. सांख्यप्रवचनभाष्यम्
४. सांख्यसारविवेकः
५. योगसारसंग्रहः

#### अप्रकाशित ग्रन्थ—

१. ईश्वरगीताभाष्यम्
२. उपदेशरत्नमाला
३. कठवल्ल्युपनिषदालोकः
४. कैवल्योपनिषदालोकः
५. मैत्रेय्युपनिषदालोकः
६. माण्डूक्योपनिषदालोकः
७. मुण्डकोपनिषदालोकः
८. प्रश्नोपनिषदालोकः
९. तैत्तिरीयोपनिषदालोकः
१०. श्वेताश्वतरोपनिषदालोकः
११. ब्रह्मादर्शः



विज्ञानभिक्षु ने जिन तीन दर्शनों से सम्बन्धित टीकाएं एवं प्रकरण ग्रन्थ लिखे हैं उनका दर्शनानुसार विभाजन इस प्रकार है ।

**योगदर्शन—**

१. योगवार्त्तिकम्
२. योगसारसंग्रहः

**सांख्यदर्शन—**

१. सांख्यप्रवचनभाष्यम्
२. सांख्यसारः

**वेदान्तदर्शन—**

१. विज्ञानामृतम्
२. ईश्वरगीताभाष्यम्
३. उपनिषद्सरत्नमाला
४. ब्रह्मदर्शः
५. ठवल्त्युपनिषदालोकः
६. कैवल्योपनिषदालोकः
७. मैत्रेय्युपनिषदालोकः
८. माण्डूक्योपनिषदालोकः
९. मुण्डकोपनिषदालोकः
१०. प्रश्नोपनिषदालोकः
११. तैत्तिरीयोपनिषदालोकः
१२. श्वेताश्वतरोपनिषदालोकः

**रचनाक्रम एवं विषयवस्तु निरूपण**

**उपदेशरत्नमाला**

सांख्य एवं योग के ग्रन्थों में लेखक के ग्रन्थ ग्रन्थों के उल्लिखित होने से प्रतीत होता है कि उन्होंने सर्वप्रथम वेदान्त के ग्रन्थों का ही प्रणयन किया होगा । शिष्यों के समक्ष सार रूप में यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया था ऐसा लेखक ने स्वयं स्पष्ट किया है ।<sup>१</sup> अतः अनुमान किया जाता है कि संन्यासकाल में सर्वप्रथम उनके समन्वयात्मक दार्शनिक मत को प्रकट करने का माध्यम यह ग्रन्थरत्न ही था ।

यह ग्रन्थ दस खण्डों में विभाजित है । इसका मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म को चिन्मात्र बताते हुए उसकी भ्रान्तरूपता का खण्डन है । विज्ञानभिक्षु ब्रह्म की भ्रान्तरूपता के कट्टर विरोधी थे । यह मत उनके प्रत्येक ग्रन्थ में स्फुट है ।

१. वेदान्ततत्त्वं संक्षिप्तमिदमाकर्ण्यतां बुधैः ।—उ० २० मा० पाण्डु लिपि पृ० १

### विज्ञानामृतभाष्यम्

यह वेदान्तसूत्रों पर लिखा गया भाष्य है इसका उल्लेख लेखक ने प्रायः सभी परवर्ती ग्रन्थों यथा योगवार्त्तिक,<sup>१</sup> सांख्यप्रवचनभाष्य,<sup>२</sup> सांख्यसार<sup>३</sup> एवं योग-सारसंग्रह<sup>४</sup> में किया है। इसे ब्रह्मसूत्र ऋजु व्याख्या कहा है। इसका कारण सम्भवतः उस समय उपस्थित ब्रह्मसूत्र के अन्य भाष्यों की अपेक्षा इसे सरल बताना हो। इसे विज्ञानामृतम् नाम स्वयं विज्ञानभिक्षु ने ही दिया है।<sup>५</sup> इसका विभाजन एवं विषयवस्तु वेदान्तसूत्र के अनुरूप ही हैं। अन्य विद्वानों ने जिस प्रकार प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के प्रारम्भिक चार सूत्रों को चतुःसूत्री नाम देकर विशिष्ट एवं विस्तृत व्याख्या की है विज्ञानभिक्षु ने इसके स्थान पर वही महत्त्व पञ्चसूत्री को दिया है अर्थात् अग्रिम एक और सूत्र को भी साथ लेकर व्याख्या की है। इसका आधार उन्होंने पूर्वाचार्यों को बताया है किन्तु अद्यावधि पञ्चसूत्री की व्याख्या किसी भी पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा की गयी प्राप्त नहीं होती, सम्भवतया वह लुप्त हो गयी होगी। पञ्चसूत्री को महत्त्व दिये जाने का इनका विशेष प्रयोजन भी हो सकता है, वह है स्वसिद्धान्त प्रतिपादन में पाँचवें सूत्र ईक्षतेर्नाशब्दम् का विशेष रूप से सहायक होना। वे सिद्धान्त जो कि सांख्ययोग एवं वेदान्त के समन्वयात्मक स्वरूप के प्रतिपादन में विशिष्ट रहे, मुख्य रूप से संसार का ईश्वरकर्तृत्व तथा अनिवर्चनीयतावाद का खण्डन आदि हैं।

अपने समन्वयात्मक दर्शन के प्रतिपादन हेतु जहाँ भी आवश्यक समझा उन्होंने शंकर के मत की तीव्र आलोचना करते हुए उसे सूत्र विरुद्ध बताकर स्वमत उपस्थापन किया है। ब्रह्म की आनन्दरूपता का जो कि वेदान्त के अन्य सभी आचार्यों ने स्वीकार की है, इन्होंने प्रबल खण्डन अपने सभी ग्रन्थों में किया है परन्तु यहाँ यह अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्राप्त होता है। प्रत्येक अध्याय एवं पाद के प्रारम्भ में गत अध्याय एवं पाद के प्रतिपाद्य विषय का सूक्ष्म सार सम्पूर्ण ग्रन्थ में दिया

१. (क) यच्च सर्वेश्वरस्य कर्मसापेक्षतया वैषम्यं नैर्घृण्य च ब्रह्ममीमांसासूत्रेणा-  
पकृतं तत्राप्ययमेवाशयः । —यो० बा० पृ० ८० ।

(ख) एतच्च सर्वं ब्रह्ममीमांसाभाष्ये श्रुतिभाष्यादिषु च प्रपञ्चितमस्माभिः ।  
—वही पृ० २२०

२. द्रष्टव्य—सां० प्र० भा० पृ० ५, २३, ३४, ४४ इत्यादि

३. वेदान्तेऽपि न... विस्तराद् ब्रह्ममीमांसाभाष्येऽस्माभिः परीक्षितम् ।

—सां० सा० सं० पृ० ४४

४. स च 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० १.१.१) इत्यादि वेदान्तसूत्ररशेषविशेषतो  
मीमांसितः । अतोऽत्र दिङ्मात्रेणोच्यते । —वही० पृ० १०

५. एतेन व्यवहारारमार्थं... अधिकं तु ब्रह्ममीमांसाभाष्ये विज्ञानामृते द्रष्टव्य-  
मिति दिक् । —वही पृ० ८६



है। अन्य ग्रन्थों की भाँति ही यहाँ भी भाष्य के अन्त में समस्त ग्रन्थ का सारांश श्लोकों में दिया है जो लगभग पाँच पृष्ठों का है। यह अन्य ग्रन्थों में दिए गए सार की अपेक्षा काफ़ी लम्बा है।

### श्रुतिभाष्यम् अथवा उपनिषद्-भाष्यम्

आठ उपनिषदों पर विज्ञानभिक्षु ने भाष्य लिखकर उनके ग्रंथों को सरल एवं स्पष्ट भाषा में प्रस्तुत किया है। इनकी ही सामूहिक संज्ञा वेदान्तालोक है, इस नाम का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है ऐसा डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव का मत है।<sup>१</sup> जिन उपनिषदों पर इन्होंने भाष्य लिखा है वे हैं कठवल्युपनिषद्, कैवल्युपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्। कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण उपनिषद् हैं जिन पर प्रायः सभी भाष्यकारों ने भाष्य लिखे हैं परन्तु विज्ञानभिक्षु ने इनकी व्याख्या नहीं की है यथा ईशोपनिषद्, केनोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद् आदि। इसका कारण सम्भवतः इनके सिद्धान्तों की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता रही होगी।

### ईश्वरगीताभाष्यम्

यह ईश्वरगीता पर लिखा गया भाष्य है। इसका नामतः उल्लेख तो लेखक की अन्य कृतियों में नहीं मिलता किन्तु श्रुतिभाष्यादि<sup>२</sup> पद में जो आदि पद का प्रयोग हुआ है वह सम्भवतः इसी के लिए हुआ है। इस सन्दर्भ में यह जान लेना आवश्यक है कि यह ईश्वरगीता कूर्मपुराण के द्वितीय भाग के प्रारम्भिक ११ अध्यायों का ही नाम है। कहीं-कहीं यह शिवगीता अथवा उत्तरगीता नाम से भी जानी जाती है क्योंकि यह शिव द्वारा बदरिकाश्रम में एकत्रित सनत्कुमार आदि ब्रह्मज्ञानियों को दिया गया वेदान्त का अत्यन्त प्रिय ग्रन्थ था, अपने ग्रन्थों विशेष रूप से योगविषयक ग्रन्थों पर लिखते हुए इन्होंने इससे अनेकशः उद्धरण दिये हैं। जैसा कि प्रस्तुत पुस्तक में विशेष रूप से द्वितीय अंश में प्राप्त होता है।

### ब्रह्मादर्शः

इस ग्रन्थ का उल्लेख हमें 'योगसारसंग्रह' में मिलता है, अतः यह निश्चय ही उससे पूर्व की रचना है परन्तु इसकी कोई भी पाण्डुलिपि उपलब्ध न होने के कारण इसके विषय में अधिक ज्ञान प्राप्त नहीं होता। योगसारसंग्रह में प्रसंगतः जो इसका उल्लेख किया गया है उसके आधार पर यह वेदान्त का ग्रन्थ प्रतीत

१. श्री वास्तव सुरेशचन्द्र—आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान पृ० ४६।

२. एतच्च सर्वं . . . श्रुतिभाष्यादिषु च प्रपञ्चितमस्माभिः।



होता है जिसमें ब्रह्म व ईश्वर-विषयक वर्णन विशद रूप से किया गया बताते हैं ।<sup>१</sup>

### योगवार्त्तिकम्

इस ग्रन्थ में ब्रह्ममीमांसाभाष्य,<sup>२</sup> श्रुतिभाष्य<sup>३</sup> आदि का उल्लेख होने से निश्चय ही उनके पश्चात् की रचना है परन्तु यह सांख्यप्रवचनभाष्य से पूर्व का ग्रन्थ है ।<sup>४</sup>

यह पतञ्जलि के योगसूत्रों एवं उस पर प्राप्त व्यासभाष्य की विस्तृत टीका है । इस पर आधृत कुछ परवर्ती टीकाएँ भी लिखी गयीं जिनमें भावागणेश की योगदीपिका नाम से व्याख्यात योगसूत्रवृत्ति है तथा नागेशभट्ट की लघ्वी वृत्ति । ये टीकाएँ ग्रन्थ के महत्त्व को प्रकट करती हैं । इसका विभाजन योगसूत्रों के अनुरूप ही चार अध्यायों में समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद एवं कैवल्यपाद के नाम से किया गया है । इसमें कुल १६५ सूत्र हैं । समाधिपाद में जिसमें ५१ सूत्र हैं योग का लक्षण एवं फल, चित्तवृत्तियाँ, योग के उपाय अभ्यास-वैराग्य, सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात समाधि एवं उनके भेद, ईश्वर-प्रणिधान, ईश्वर-निरूपण, योगान्तराय, चित्तपरिकर्म, समापत्ति, ऋतम्भरा प्रज्ञा तथा निरोधसमाधि आदि विषयों का वर्णन हुआ है । ५५ सूत्रों वाला साधनपाद मध्यम एवं अधम कोटि के साधकों हेतु क्रमशः क्रियायोग एवं अष्टांगयोग का विस्तृत वर्णन करता है । अविद्या आदि पञ्च क्लेश तथा द्रष्टा एवं दृश्य आदि के स्वरूप का निरूपण भी प्रसंगतः यहाँ किया गया है । विभूतिपाद में भी ५५ सूत्र हैं । इसमें अष्टांग योग के अन्तिम तीन अंगों, धारणा, ध्यान एवं समाधि का वर्णन करते हुए उनकी अन्तरङ्गता बताया गया है । तदनन्तर त्रिविध चित्त परिणाम, धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणाम, संयमजन्य सिद्धियाँ, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति पर संयम से प्राप्त सिद्धि की सर्वोत्कृष्टता तथा विवेकज्ञान का निरूपण किया गया है । अन्तिम अर्थात् कैवल्यपाद में सिद्धियों के पाँच प्रकार, जात्यन्तर परिणाम, निर्माणचित्त, कर्मजाति, वासना, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि का खण्डन कर चितिशक्ति एवं दृश्य पदार्थों की सत्ता का स्थापन, जीवन्मुक्त, धर्ममेघसमाधि तथा कैवल्य का निरूपण हुआ है ।

योगवार्त्तिक में पारिभाषिक पदों के अर्थ स्पष्टीकरण में उनकी व्युत्पत्ति-परक व्याख्या की है । साथ ही अन्य ग्रन्थों से भी पर्याप्त उद्धरण देकर स्वमत को सम्पुष्ट किया है । योगसूत्र एवं भाष्य के पूर्ववर्ती भाष्यकार वाचस्पतिमिश्र की

१. ब्रह्मप्रकरणे ब्रह्मादशादीवीश्वरोऽपि च । वर्णितो वर्ण्यते नात्र ग्रन्थसंक्षेप-  
काम्यया । —यो० सा० सं० पृ० ३६

२. द्रष्टव्य —यो० वा० पृ० ४०

३. वही पृ० २२०

४. द्रष्टव्य —सा० प्र० भा० पृ० ५, २३, ३४, ४४ इत्यादि



तत्त्ववैशारदी इनके खण्डन-मण्डन का मुख्य आधार रही है, जहाँ उसके मत से सहमत होते वहाँ तो पंक्तियों को अपनी व्याख्या में यथावत् स्थान दे देते अन्यथा प्रबल खण्डन कर स्वमत स्थापन करते दिखते हैं। अवसर प्राप्त कर इन्होंने अपने दार्शनिक समन्वयात्मक दृष्टिकोण को यत्र-तत्र पल्लवित किया है। निश्चय ही योगसूत्रों को समझने में यह अनन्य सहायक कृति है।

### सांख्यप्रवचनभाष्यम्

योगवार्त्तिक<sup>१</sup> एवं ब्रह्ममीमांसाभाष्य<sup>२</sup> का इसमें उल्लेख होने से निश्चय ही यह उनसे परवर्ती है परन्तु सांख्यसार एवं योगसारसंग्रह से पूर्व लिखा गया है क्योंकि उनका यहाँ पर कोई वर्णन नहीं है। साथ ही उन ग्रन्थों में इसका स्पष्ट नाम संकीर्तन किया गया है जैसा कि हम आगे देखेंगे।

यह कपिल द्वारा रचित सांख्यसूत्रों पर लिखा गया भाष्य है जिसमें लुप्त-प्राय सांख्यशास्त्र का पुनरुद्धार किया गया है। सूत्र ग्रन्थ के अनुरूप ही यह भी छः भागों में विभक्त है। प्रथम अध्याय को जिसमें १६४ सूत्र हैं विज्ञानभिक्षु ने विषयाध्याय कहा है क्योंकि इसमें विभिन्न विषयों का विशद वर्णन हुआ है। ४७ सूत्रों वाले द्वितीय अध्याय में सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन होने से प्रधानकार्याध्याय कहा है। तृतीय अध्याय को वैराग्याध्याय की संज्ञा दी गयी है जिसमें ८४ सूत्र हैं। चतुर्थ अध्याय में अपेक्षाकृत कम सूत्र हैं इनकी कुल संख्या ३२ है तथा इसे आख्यायिका अध्याय नाम दिया गया है। पंचम अध्याय नाम का जिसमें १३० सूत्र हैं विज्ञानभिक्षु ने परपक्षनिर्जयाध्याय रखा है क्योंकि इसमें प्रायः पूर्वपक्ष का निराकरण ही किया गया है। अन्तिम अर्थात् छठे अध्याय में ७० सूत्र हैं तन्त्राध्याय कहा जाता है। विज्ञानभिक्षु इसका प्रयोजन असन्दिग्ध तथा विपर्यस्त उक्तार्थों का दृढ़तर बोध कराना मानते हैं।

### सांख्यसारः

यह योगसारसंग्रह से पूर्व की रचना प्रतीत होती है क्योंकि इसमें अन्य सभी ग्रन्थों यथा ब्रह्ममीमांसाभाष्य<sup>३</sup>, सांख्यप्रवचनभाष्य<sup>४</sup> एवं योगवार्त्तिक<sup>५</sup> आदि का उल्लेख होने पर भी उक्त ग्रन्थों का वर्णन प्राप्त नहीं होता।

१. द्रष्टव्य—सां० प्र० भा० पृ० ८, १६, ४८ इत्यादि।

२. द्रष्टव्य—वही पृ० ५, २३, ३४, ४४ इत्यादि।

३. द्रष्टव्य—सांख्यसारसंग्रह पृ० ४४

४. वही पृ० १

५. ....ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वं गौरवादित्यादिकं योगवार्त्तिके(१.२.१३) प्रपञ्चितम्—वही पृ० ४



यह एक प्रकरण ग्रन्थ है, जिसमें लेखक ने अपने सांख्य-विषयक मत को स्पष्ट रूप में ग्रथित किया है। इस रचना में लेखक के समन्वयात्मक दृष्टिकोण को देखा जा सकता है। यदि इसे विज्ञानभिक्षु के दर्शन का दर्पण माना जाय तो अनुचित न होगा। यह दो भागों में विभक्त है पूर्वभाग एवं उत्तरभाग। इसका पूर्वभाग गद्य में एवं उत्तरभाग पद्य में है। विषयानुसार इनमें हमें क्रमशः तीन और सात परिच्छेद मिलते हैं।

पूर्वभाग के प्रथम परिच्छेद में विवेकख्याति-जन्य परमपुरुषार्थ कैवल्य का निरूपण किया गया है, द्वितीय परिच्छेद में विवेकख्याति का स्वरूप तथा तृतीय में प्रसंगतः प्राप्त विषय-प्रकृति एवं उसके परिणाम का वर्णन प्राप्त होता है। उत्तर-भाग में जो सात परिच्छेदों में विभक्त है जिन विषयों का वर्णन है वे इस प्रकार हैं—

१. पुरुषस्वरूपविवेचन २. आत्मानात्मतत्त्वों की सत्यता असत्यता ३. इन दोनों का चिदचिद वैधर्म्य ४. आत्मानात्म का प्रियाप्रियत्व वैधर्म्य ५. आत्मवैधर्म्य गण ६. राजयोग प्रकार तथा ७. जीबन्मुक्त एवं परममुक्ति।

योगसारसंग्रहः

विज्ञानभिक्षु के ग्रन्थों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ अन्तिम प्रतीत होता है क्योंकि इसका वर्णन उसकी अन्य कृतियों में नहीं मिलता, साथ ही उन अन्य सभी प्रमुख ग्रन्थों का यहाँ उल्लेख किया गया है यथा—सांख्यसार<sup>१</sup>, सांख्यप्रवचनभाष्य,<sup>२</sup> योगवार्त्तिक,<sup>३</sup> वेदान्तसूत्र-ऋजुव्याख्या<sup>४</sup> एवं ब्रह्मादर्श<sup>५</sup> आदि।

इस ग्रन्थ में लेखक ने अपने योगविषयक मन्तव्य को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। पतञ्जलि रचित योगसूत्र एवं उस पर लिखे व्यासभाष्य की टीका योगवार्त्तिक में जिन धारणाओं को सूत्र की व्याख्या करते हुए दिया गया है उन्हीं का सार इस ग्रन्थ में विद्यमान है। सूत्रों पर टीका लिखते समय कुछ सीमाएँ होती हैं जिनके कारण लेखक विषय का क्रमबद्ध एवं स्फुट विषयानुसार वर्णन नहीं कर

१. सांख्यसाराख्ये सांख्यप्रकरणे त्वस्माभिर्विस्तरतः प्रकृतिपुरुषौ विवेचितौ।

—यो० सां० सं० प० ९

२. मयाऽपि वार्त्तिके सांख्यभाष्ये च प्रपञ्चितम्।

—वही पृ० १६

३. असम्प्रज्ञातयोगस्य चाखिल वार्त्तिकेऽस्माभिः प्रपञ्चितम् (यो० १.१७.१८)।

—वही पृ० १

४. स च.....वेदान्तसूत्रैरशेषविशेषतो मीमांसितः। अतोऽत्र दिङ्मात्रेणोच्यते।

५. ब्रह्मप्रकरणे ब्रह्मादर्शादावीश्वरोऽपि च। वर्णितो वर्ण्यते नात्र ग्रन्थसंक्षेप-काम्यया।

—वही पृ० ३६



सकता। उसी इच्छा की पूर्ति हेतु यह ग्रन्थरत्न लिखा गया है। इसका विभाजन योगवाक्तिक की भाँति चार भागों में किया गया है परन्तु उन्हें प्रथम अंश, द्वितीय अंश आदि कहकर, अंश के अन्त में विषयवस्तु के आधार पर नाम दिया गया है यथा प्रथम अंश को योगस्वरूप एवं उसके प्रयोजन को निरूपित करने वाला कहा है, द्वितीय अंश योगसाधनों का निरूपण करने वाला है, तृतीय को योगसिद्धिनिरूपण व अन्तिम चतुर्थ अंश को कैवल्यदि का वर्णन करने वाला कहा है।

यद्यपि इस ग्रन्थ का विभाजन भी चार भागों में किया गया है तथापि योगसूत्र के विभाजन से यहाँ वैभिन्न्य दृष्टिगोचर होता है क्योंकि यह विभाजन विषयानुसारी है यही कारण है कि इसके प्रथम अंश में विषय की आवश्यकता के अनुरूप द्वितीय एवं चतुर्थ पाद के सूत्रों तथा व्यास भाष्य का आश्रय लिया गया है। इसी प्रकार साधनों का निरूपण करने वाले द्वितीय अंश में सभी साधनों को एकत्रित रूप में दिया गया है। यथा परिकर्मों का वर्णन प्रथम पाद में किया गया है जबकि इस ग्रन्थ में वे साधनों का निरूपण करने वाले द्वितीय अंश में ही दिये गए हैं। इस रूप में विषयानुसार सामग्री का संकलन दर्शन को समझने में अत्यन्त उपयोगी है। अन्तिम अंश में कैवल्य का निरूपण करते हुए विज्ञानभिधु ने अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण का अनन्य उदाहरण प्रस्तुत किया है, इसमें प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों से अविरोध प्रदर्शित किया गया है। इस भाग में लेखक ने स्फोट, मनोवैभव एवं काल आदि ऐसे विषयों को भी व्याख्यात किया है जिन पर योग-दर्शन के अन्य ग्रन्थ प्रायः मौन थे।

योगवाक्तिक का वर्णन करते हुए उसकी विषयवस्तु का जो विवरण दिया गया है वह योगसूत्र एवं व्यासभाष्य द्वारा अपनाये गये क्रम के अनुरूप है। अब योगसारसंग्रह के अंशगत विषयों का निरूपण यहाँ किया जा रहा है जिसके द्वारा पाठक योगसूत्र एवं भाष्य से यहाँ किये गये परिवर्तन को जान सकेंगे।

प्रथम अंश में योग की परिभाषा, उसके भेद एवं उपभेद तथा चित्त एवं उसकी वृत्तियों का वर्णन किया गया है; उसके पश्चात् निरोध क्या है यह बताया गया है; तदनन्तर योग के दोनों भेद — सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात की व्याख्या करते हुए उनके भेदों का वर्णन किया गया है। योग के फल कैवल्य के प्रति इनकी कारणता का भी यहाँ वर्णन किया गया है। ईश्वर क्या है? तथा उसका प्रणिधान किसे कहते हैं इसकी चर्चा भी इसी अंश के अन्तर्गत की गयी है।

द्वितीय अंश में उत्तम, मध्यम एवं अधम तीन कोटियों के साधकों का श्रेणी विभाजन करते हुए सर्वप्रथम अभ्यास एवं वैराग्य, उसके भेद पर एवं अपर वैराग्य तथा अपर वैराग्य के चार भेद बताये गये हैं। फिर विभिन्न परिकर्मों का वर्णन किया गया है उसके पश्चात् मध्यम कोटि के अधिकारियों हेतु क्रियायोग



तथा उसके तीनों अंगों की व्याख्या करते हुए उनके फल का वर्णन किया गया है। इस अंश के अन्तिम भाग में अधम कोटि के साधकों हेतु अष्टांग योग का अत्यन्त प्रभावकारी एवं स्पष्ट वर्णन किया गया है क्योंकि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि प्रत्येक अंग की व्याख्या श्रुति, स्मृति एवं पुराणों से उद्धरण देते हुए की गयी है। सम्प्रज्ञात योग के प्रति धारणा आदि तीनों की अन्तरंगता का भी यहाँ उल्लेख किया गया है।

तृतीय अंश में लेखक ने विभूतिपाद में वर्णित सिद्धियों का संक्षिप्त एवं स्पष्ट रूप में वर्णन किया है। सिद्धियों के वर्णन का प्रयोजन, उनकी अनन्तता का उल्लेख करके सर्वप्रथम संयम-जन्य सिद्धियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आत्म-साक्षात्कार-जन्य सिद्धि को विस्तार पूर्वक बताया है। तदनन्तर ग्राह्य, ग्रहण एवं गृहीता पर संयम करने से प्राप्त होने वाली सिद्धियों को किस प्रकार अधिगत किया जा सकता है यह बताया गया है। तदनन्तर इन सिद्धियों के कारण जो जात्यन्तर परिणाम आदि होते हैं उनमें प्रकृत्यापूर तथा धर्म-अधर्म आदि निमित्तों का प्रयोजन भी स्पष्ट किया गया है। अन्त में संयम-जन्य सिद्धियों का जन्मादि से प्राप्त सिद्धियों से वैशिष्ट्य दिखाते हुए जन्म, ओषध, मन्त्र एवं तप जन्य सिद्धियाँ भी बतायी गयी हैं।

चतुर्थ अंश में सर्वप्रथम योग के परमलक्ष्य कैवल्य का वर्णन किया गया है। योग-दर्शन में वर्णित कैवल्य का अन्य आस्तिक दर्शनों में बताये गये मोक्ष अथवा निर्वाण या अपवर्ग से साम्य प्रदर्शन इसी ग्रन्थ में मिलता है। इस भाग का अन्य वैशिष्ट्य यह है कि इसमें हमें स्फोट एवं मनोवैभव जैसे विषयों की योगानुसारी व्याख्या मिलती है जो कि अन्यत्र नहीं की गयी।

विषय की व्याख्या करते हुए लेखक ने स्वमत स्थापन के लिए स्थान-स्थान पर श्रुति, स्मृति एवं पुराणों से अनेक उद्धरण देकर अपने मत को पुष्ट किया है जिसके द्वारा विषय के स्पष्टीकरण के साथ-साथ लेखक की अपार ज्ञान-राशि का भी परिचय प्राप्त होता है। इस लघुकाय ग्रन्थ में जो उद्धरण दिये गये हैं उनमें से कुछ तो वही हैं जो कि योगवार्त्तिक में दिये गये हैं किन्तु अनेक नये उद्धरण भी हमें यहाँ प्राप्त होते हैं जिससे ग्रन्थ की गरिमा निश्चय ही बढ़ी है।

इन उद्धरणों को देखकर कहा जा सकता है कि योग-दर्शन पूर्णतः अपने उसी रूप में पतञ्जलि द्वारा प्रस्तुत किया गया है जिस रूप में पुराणों, उपनिषदों एवं गीता आदि में अव्यवस्थित रूप में विद्यमान था। महर्षि ने उसे एक सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया तथा विज्ञानभिक्षु ने सारगर्भित उस सूत्र शैली में निबद्ध दर्शन को बोधगम्य सरल रूप में यहाँ प्रस्तुत किया है। शोधकर्त्ताओं एवं गहन अध्ययन के इच्छुक पाठकों हेतु इन उद्धरणों की अनुक्रमणिका दी जा रही है—



## अनुक्रमणी १

प्रक्षयः परमो धर्मः ३५ स्मृति  
अगर्भश्च सगर्भश्च २३ ना० पु०  
अणिमा महिमा ३१ स्मृति  
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा १० ब्र० सू० १.१.१  
अनश्नन्नन्यो अभि १६ वृ० उ०  
अनिजित्येन्द्रियग्रामं २४ ना० पु०  
अन्तःकरणधर्मत्वम् ३६ सां. सू.  
५.२५  
अन्तः स्थितेश्च २६ ना. हरि. सु.  
अन्धं तम इवाज्ञानं वि. पु. ६.५.६२  
अपेतकर्मा तु केवलं १२ अनुगीता  
अभ्यासवैराग्याभ्यां १२ यो० सू०  
१.१२  
अयं च जीवपरयोर्योगो २६  
अर्धमात्रास्थिता ३८ स्मृति  
अशरीरं वाव सन्तं ३५ छां० उ०  
८.१२  
असम्प्रज्ञातयोगस्य चाखिलवृत्ति-  
संस्कारदाहद्वारा प्रारब्धस्याप्यति-  
क्रमेणेति १ यो० ब्रा० १.१३.८  
आरुक्ष्यतीनां १२ ग० पु० १. २७.४  
आसनस्थानविधयो १३ ग० पु० २२७,  
४४, ४५  
आसनं स्वस्तिकं २१ ई० गी०  
इत्यात्मानं दृढं ज्ञात्वा २६ ना. हरि.  
सु.  
इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयमिति २४ स्मृति  
इष्टानिष्टगुणस्वरूप २६ व्या. भा०  
ईश्वरप्रणिधानाद्वा ७ यो. सू. १.१३  
ईश्वरप्रसादादजितोत्तरभूमिकः ५  
व्या० भा०  
ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा १ व्या० भा०  
३.५५  
उपवासापराकादि २० ई० गी०  
उभे कृत्वा पादतले २१ ई० गी०  
ऊर्वोरुपरि कृत्वा २१ ई० गी०  
ऋतं पिबन्ती १६ कठो० १.३.१  
एकपादमनेकस्मि २१ ई० गी०  
एकान्ते स्वासनो २६ ना. हरि. सु.

एतद्रूपपञ्चक ३२ यो. सू. ३.४७  
एतमेव प्रव्राजिनो १३ वृ० ३.४.४  
एतयोरुभयोर्मध्ये २२ उ० गी०  
एतानेके महायज्ञान् १३ मनुस्मृति  
एवं ब्रह्मणि युक्तात्मा २७ ना. हरि.  
सु.  
एवं सततमभ्यासात् २७ ना. हरि. सु.  
अहिंसा सत्यमस्तेयं २६ ई० गी०  
ओष्ठयोः स्पन्दमात्रेण २० ई० गी०  
कर्मणा वध्यते जन्तुः १२ मोक्षधर्मं  
कर्मणा मनसा वाचा २६ ई० गी०  
कुत्रापि कोऽपि सां. सू. ६.७  
कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टम् ३५ यो.  
सू. २.२२  
केवले कुम्भके सिद्धे २३ व० सं०  
क्रमाद्विलापयन्नेव २७  
क्षीणवृत्तेरभिजातस्य २६ यो. सू.  
१.४१  
क्षीणवृत्तेरभिजातस्य ३ यो० सू०  
१.४१  
चतुर्विंशतितत्त्वेभ्यः ७ स्मृति  
चित्ताकाश ३८ स्मृति  
जन्तूनां दक्षिणा नाडी २१ ना० पु०  
जन्मोपधिमन्त्रतपः ३४ यो. सू. ४.१  
जात्यन्तरपरिणामः ३३ यो. सू. ४.२  
ज्ञानतोऽज्ञानतो वाऽपि १६ स्मृति  
तां विद्याकर्मणि १०-११ वृ० उ०  
४.४.२  
ततो वपुरहङ्कारबुद्धिभ्यो २६ ना.  
हरि. सु.  
तदपि दुःखशबलमिति १८ सां० सू०  
६ ८  
तदेवमात्मन्यवरुद्ध २५ या. स्मृति  
तद्वैराग्यादपि २६ यो. सू. ३.५०  
तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये ३३ यो.  
सू. २.५०  
तदगतिश्रुतेः ३८ सां. सू. ५.७०  
तद्देहपाते च पुनः २७ ना. हरि. सु.

१. अनुक्रमणी में उद्धरण फिर प्रस्तुत ग्रन्थ के मूल की पृ. सं. व अन्त में ग्रन्थ का नाम है ।



तद्वशादेव सर्वेषां १८ कूर्म० ३.२  
तपःस्वाध्यायसन्तोषाः २० ई० गी०  
तस्मादेवंविच्छान्तोदान्तः १३ वृ. उ.  
४.४

तस्मान्मुमुक्षोः १० स्मृति  
तस्य तावदेव चिरम् ३ छा० उ०  
६.१४.२

तस्य भूमिषु २५ यो० सू० ३.६  
तारकं सर्वविषयं ३२ यो. सू. ३.५३  
ते समाधावुपसर्गा १० यो. सू. ३.३७  
ते ह स्म पुनैवणाश्च १३ वृ० उ०  
३.५

त्रिविधदुःख ३५ सां. सू. १.१  
दिवकाल ३६ सां. सू. २.१२  
दुःखं कामसुखापेक्षा ३६ स्मृति  
दुःखनिवृत्तेः ३६ सां. सू. ५.६७  
दुःखमेवास्ति न सुखम् ३६ स्मृति  
दुःखार्तस्य प्रतीकारे ३६ स्मृति  
देवयोनिरिति ख्याता २२ ई० गी०  
देशवन्वचित्तस्य २४ यो० सू० ३.१  
देशवस्थितिमालम्ब्य २४ ई० गी०  
द्रव्याणामप्यनादानमापद्यपि २० ई०  
गी०

द्वादशमात्रः कनीयान् २२ या. स्मृ.  
धारणा द्वादशायामा २४ ई० गी०  
न गृह्णाति न त्यजति २२ ई० गी०  
न व्यापकं मनः ३८ सां. सू. ५.६६  
निमित्तमप्रयोजकम् ३३ यो. सू. ४.३  
निमेषोन्मेषणे मात्रा २३ मार्क० ३६.  
१५

निर्माणचित्तान्यस्मिता ३३ यो. सू.  
४.४

परद्रव्यापहरणं २ ई० गी०  
पराक्प्रवृत्ताक्षगणं २६ ना. हरि. सु.  
पश्यात्मनि संलीनो ३६ स्मृति  
पूर्वाभ्यासबलात्कार्यो २७ ना. हरि. सु.  
पूरकः कुम्भकश्चैव २२ या० स्मृ०  
पुरुषार्थशून्यानां ३५ यो. सू. ४.३४  
प्रगवेन परं ब्रह्म २४ या. स्मृ.  
प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां ३७ सां. सू. ५.५७  
प्रमाणविपर्यय १ यो. सू. १.६

प्रथमा भावना ७ कूर्म०  
प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकम् ३५ योगसूत्र  
४.५

प्रसादे सर्वदुःखानां १४ गीता २.६५  
प्राप्नोति विषयान्कश्चित् ३५ स्मृति  
बाह्यमाभ्यन्तरं शौचं २० ई० गी०  
ब्रह्मैव समाधिस्तस्य ११ अनुगीता  
भागगुणभ्यां २ सां. सू. ५.१०७  
भुवनज्ञानं २६ यो. सू. ३.२६  
मात्राप्रमाणयोगेन २३ या. स्मृ.  
मुक्तिर्हित्वान्यथा भावं २.१०.६  
मनसोऽभ्युदयो ११ स्मृति  
मुधा कर्तृत्वभोक्तृत्व २६

यच्च किञ्चित्सुख ३६ स्मृति  
यतो यतो निश्चलति १३ गीता ६.२६  
यत्पदाक्षरं सङ्गत्या १० ई० गी०  
यथा सुषुप्तः पुरुषो १५ स्मृति  
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु १३ गीता ६.४  
यदा दुःखात्क्लेशः १८ सां. सू. ६.६  
यद्वन्नालाभतो २० ई० गी०  
यः शाब्दबोधजननः २० ई० गी०  
यत्र पश्यसि चात्मानम् ७ कूर्म  
यत्र साक्षात्प्रपश्यन्ति ७ कूर्म  
यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानम् ११.५.५  
यस्य नालङ्कृतो १८ गीता १८.१७  
ये चान्नो योगिना ७ कूर्म  
योगाग्निर्देहति क्षिप्रम् ४ स्मृति  
योगारम्भे मूर्तं हरिम् ५ ग० पु०  
१.२२६.२५

योगी च त्रिविधो ७ मत्स्य पु०  
रेचकं पूरकं त्यक्त्वा २१ वसिष्ठ सं०  
रेचकः पूरकश्चैव २१ ना० पु०  
रागद्वेषविवर्तस्तु १४ गीता २.६४  
रागद्वेषादयो १८ कूर्म० ३.२०  
वाचारम्भणं विकारो ६ छा० उ० ६.१  
वामेन रेचयेद्वायुं २० ई० गी०  
वितर्कश्च विचारश्च ६ मोक्षधर्म  
१६५.१५

विद्वान् हर्षशोकी ३५ क० उ० २.१२  
विनिष्पन्नसमाधिस्तु ३ छा० उ०  
६.७.३५



विभुक्तिप्रशंसा ३६ सां. सू. ५.६८  
 विलाप्य विस्तरं ना० हरि० सु०  
 विषयेषु प्रसक्तानि २४ ना. पु.  
 वेदान्तशतद्वितीय २० ई० गी०  
 वेदान्तेभ्यः सतां २६ ना० हरि० सु०  
 वैराग्यं पुनरेतस्य ३३ मोक्षधर्म ३  
 व्युत्थितोऽपि जगत्कृतस्त्वं २७ ना.  
 हरि. सु.  
 श्रद्धावीर्यस्मृति ६ यो० सू० १.२०  
 श्रुतिविप्रतिपन्ना ते १३ गीता २.५२  
 सति मूले तद्विपाकः ४. यो० सू०  
 २.१३  
 सत्येन सर्वमाप्नोति २० ई० गी०  
 सत्त्वपुरुषयो रत्यन्तासङ्कीर्णयोः २६  
 यो. सू. ३.३५  
 सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य ३२  
 यो. सू. ३.४६

सनन्दसनन्दनादयो १६ वि० पु०  
 समाधिभावनायः १७ यो. सू. २.२  
 सलिले करकाश्मेव २६ ना. हरि. सु.  
 सव्याहृति सप्रणवां २३ ई० गी०  
 सहितं केवलं वापि २३ वसि० सं०  
 सारभूतमुपासीत २५ स्मृति  
 स्तुतिस्मरणपूजाभि० २० ई० गी०  
 स्थापयित्वा पदेऽश्वाणि २६ ना.  
 हरि. सु.  
 स्थूलस्वरूपसूक्ष्म० ३१ यो. सू. ३.४४  
 स्थूले विनिजितं २५ स्मृ०  
 स्वदेहे पूरितं २२ ई० गी०  
 स्वाध्यायस्य २० ई० गी०  
 हिरण्यगर्भादिषु १६ वि० पु०  
 हृत्पुण्डरीके २४ ई० गी०  
 हेयं दुःखम् ३५ यो. सू. २.१६

### समन्वयात्मक दृष्टिकोण

प्रायः टीकाकार जिस दर्शन पर लिखते हैं उसके मन्तव्यों को ही स्पष्ट करना चाहते हैं जैसाकि श्रीवाचस्पति मिश्र ने छः दर्शनों की व्याख्या में किया है अथवा यदि लेखक किसी मत विशेष का अनुयायी होता है तो दर्शन का स्वरूप ही विकृत कर देता है या पूर्णतः उसका विरोध करता है परन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु सांख्य, योग एवं वेदान्त तीनों दर्शनों में समन्वय के इच्छुक थे। अन्य दर्शनों को सम्भवतः वह इससे पूर्व की अवस्था मानते थे अतः उस पर अधिक नहीं कहा है। उनके इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचय हमें उनके प्रत्येक ग्रन्थ से मिलता है चाहे वह सांख्य का हो अथवा योग का या फिर वह वेदान्त पर लिख रहे हों। उनकी कुछ निश्चित मान्यताएँ भी थीं जिन्हें उन्होंने सर्वत्र समान रूप से प्रस्तुत किया है यथा चाहे वह सांख्य पर लिख रहे हों या योगवार्त्तिक में योगसूत्रों की व्याख्या हो अथवा वेदान्तसूत्रों पर भाष्य लिख रहे हों, ब्रह्म एवं ईश्वर विषयक विशेष दृष्टिकोण हमें सर्वत्र समान रूप से मिलता है। वह ब्रह्म की आनन्द-स्वरूपता के कट्टर विरोधी थे तो ईश्वर को सामान्य जीवों से भिन्न व क्लेश-कर्मादि से रहित मानते थे। योगसारसंग्रह में योग-विषयक ईश्वर प्रसंग में बिना किसी हिचकिचाहट के वह लिख देते हैं कि ब्रह्ममीमांसाभाष्य व ब्रह्मादर्श में इनका विस्तृत वर्णन हो चुका है अतः यहाँ पुनः व्याख्यात करने की आवश्यकता नहीं। अपने मत का प्रतिपादन करने हेतु अन्य मतों को उन्होंने कुशलतापूर्वक खण्डित कर



स्वमत प्रस्थापित किया है। अद्वैत वेदान्तियों का खण्डन करते हुए वह विशेष रूप से उत्तेजित हो जाते थे। उनके लिए वे वेदान्तिबुद्धाः, प्रच्छन्नबुद्धाः, आधुनिक-वेदान्तिनः व अपने वंशाशिकाः आदि विशेषणों का प्रयोग करते हैं।

## शैली

वह सरल एवं स्पष्ट भाषा में सिद्धान्तों को पाठक तक पहुंचाने के इच्छुक थे। पदों का अर्थबोध कराने हेतु उन्होंने व्युत्पत्ति परक व्याख्या की है तथा प्रायः छोटे-छोटे समासों का ही प्रयोग किया है। उनके ग्रन्थों के रचना-क्रम में उत्तरोत्तर भाषा का सरलीकरण दृष्टिगोचर होता है यही कारण है कि सांख्यसार एवं योगसारसंग्रह क्रमशः सांख्य एवं योग के सिद्धान्तों को पाठक तक प्रेषित करने में अनन्यतम हैं। गद्य एवं पद्य दोनों में ही इनके ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है परन्तु अधिकांशतः रचनाएँ गद्य में ही हैं। कारण सम्भवतः टीका-लेखन रहा हो, स्वतन्त्र ग्रन्थों में सांख्यसार का आधा भाग गद्य में व सम्पूर्ण उत्तरभाग पद्य में प्राप्त होता है।

## प्रस्तुत संस्करण का महत्त्व एवं वर्गीकरण

वर्तमान में ग्रन्थ का उपलब्ध न होना ही प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन का मूल प्रेरणास्रोत है। इस संस्करण को तैयार करने में थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, अडयार (मद्रास) वाले संस्करण को आधार बनाया गया है, जिसके प्रारम्भ में डा० गंगानाथ झा द्वारा किया हुआ अंग्रेजी अनुवाद है और उसके बाद मूल संस्कृत। इसी संस्करण में कुछ पाठान्तर भी दिये गये हैं, उन्हें १ पु०, २ पु० इन संकेतों से सूचित किया गया है। ये निम्न प्रतियों के सूचक हैं—

१. पु०—काशीनिवासी श्री गोविन्ददास जी द्वारा प्राप्त प्रति।

२. गवर्नमेन्ट संस्कृत कॉलेज काशी के पुस्तकालय की प्रति।

संस्करण के प्रारम्भ में सम्पूर्ण मूल दिया गया है और उसके पश्चात् हिन्दी अनुवाद। यह अनुवाद भी मूल के अनुरूप ही चार अंशों में विभाजित है। प्रायः मेरा प्रयत्न भावानुवाद करने का रहा है तथापि अनुवाद होने के कारण वाक्य-विन्यास में कहीं-कहीं पूर्ण प्रवाह नहीं आ सका है। पाठक उसके लिए क्षमा करेंगे। सम्पूर्ण मूल के पश्चात् अनुवाद होने से पाठकों को कुछ असुविधा हो सकती है वे मूल का अनुवाद साथ-साथ नहीं देख सकेंगे परन्तु ऐसा करने का उद्देश्य हिन्दी भाषा में एक साथ विषय को प्रस्तुत करने का था क्योंकि मूल के साथ-साथ अनुवाद देने से विषय का तारतम्य नहीं रह पाता। इसके द्वारा वे हिन्दी भाषी पाठक जो मूल देखने के इच्छुक नहीं हैं, एक साथ ही विज्ञानभिक्ष के योग-



विषयक मत को पढ़ एवं समझ सकेंगे । अनुवाद करते हुए ऐसे अनेक पद, वाक्यांश एवं सिद्धान्त आये हैं जो व्याख्यासापेक्ष थे, अनुवाद के साथ-साथ उनमें टिप्पणी संख्या का निर्देश कर दिया गया है परन्तु वह व्याख्या भी विभिन्न ग्रंथों के अन्तर्गत ग्रन्थ के तृतीय भाग में अनुवाद के पश्चात् अन्त में दी गयी है । प्रस्तुत संस्करण का प्रत्येक भाग अपनी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने पर भी व्याख्या भाग का विशेष महत्त्व है क्योंकि उसके बिना ग्रन्थ को आत्मसात् कर पाना दुष्कर है । यही कारण है कि यह ग्रन्थ अब तक अधिक प्रचलित नहीं हो सका । व्याख्या के अन्तर्गत मात्र पदों का अर्थान्तर ही नहीं दिया गया है वरन् वहाँ अभिप्रेत मन्तव्य की सम्पूर्ण व्याख्या की गयी है यथा योग की परिभाषा जो यहाँ दी गयी है उसमें सूत्र एवं भाष्य की परिभाषा में क्या अन्तर है और क्यों ? यही कारण है कि व्याख्या भाग ग्रन्थ के अन्य दोनों भागों की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया है । अभी भी कुछ ऐसे स्थल थे जहाँ कुछ अधिक विस्तार से कहा जा सकता था परन्तु ग्रन्थ-विस्तार के भय से अपने को संयत रखना पड़ा । अतः वे पाठक जो योग-सिद्धान्तों को और विज्ञानभिक्षु कृत व्याख्या को विस्तार से जानने के इच्छुक हैं मेरी पुस्तक पातञ्जल योगसूत्र एक समालोचनात्मक अध्ययन (तत्त्ववैशारदी एवं योगवार्त्तिक के परिप्रेक्ष्य में) से सहायता ले सकते हैं ।

अन्त में मैं उन सभी विद्वान् लेखकों एवं सम्पादकों को धन्यवाद देती हूँ जिनके ग्रन्थों की सहायता से प्रस्तुत संस्करण तैयार किया जा सका ।

दिल्ली विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष, प्रो० सत्यव्रत शास्त्री महोदय को जिन्होंने अपनी स्नेहिल छाया में मुझे इस योग्य बनाया मैं प्रणाम करती हूँ ।

डा० वाचस्पति उपाध्याय रीडर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय ने अत्यन्त व्यस्तता के होते हुए भी जो इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखकर उसके महत्त्व को बढ़ाया है उसके लिए मैं उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करती हूँ ।

विभाग के सभी प्राध्यापकों से निरन्तर मुझे लिखने की प्रेरणा एवं सुभाव प्राप्त होते रहे हैं अतः सभी से इसी प्रकार प्राप्ति की भविष्य में कामना करती हूँ ।

डा० टी० एस० खमण्णी को-आरडीनेटर नॉन कॉलिजिएट दि. वि. वि., डा० बी० एम० चतुर्वेदी, डा० पुष्पेन्द्र कुमार रीडर, संस्कृत विभाग दिल्ली वि. वि., डा. भारद्वाज रीडर, दर्शनविभाग दि० वि० वि० तथा डा० आर० एस० पाण्डेय प्राध्यापक राजधानी महाविद्यालय दि० वि० वि० को विशेष रूप से धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने प्रस्तुत संस्करण को वर्तमान रूप देने में व मेरे सांख्य-योग विषयक शंकाओं के समाधान में सहायता की है ।

ईस्टन बुक लिक्सर्स के स्वामी श्री शाम लाल मलहोत्रा जी को मैं विशेष रूप से धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर पाठकों तक पहुँचाया है ।

अन्त में विद्वान् पाठकों से नम्र निवेदन है कि ग्रन्थ में हुई अशुद्धियों के लिए क्षमा करें तथा अपने बहुमूल्य सुझावों से अवगत कर मुझे कृतार्थ करें जिससे अग्रिम संस्करण में उससे लाभ उठा कर पुस्तक को शीघ्र अधिक उपयोगी बनाया जा सके ।

१३-१-५१.

पवन कुमारो  
रिसर्च एसोसिएट,  
संस्कृत विभाग,  
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली



# योगसारसंग्रहः

## प्रथमोऽशः

यः सृष्ट्वाब्जजविष्णुशङ्करमयं बुद्ध्याख्यसूत्रं मह-  
त्तत्त्वं सत्त्वरजस्तमोमयमहामायामयाद्देहतः ।

अन्तर्यामितयोर्णनाभवदहो तेनैव कुर्वञ्जग-  
च्चक्रव्यूहमिवं निर्जाशमशकान्वध्नाति तस्मै नमः ॥१॥

पतञ्जलिव्यासमुल्लान्गुरूनन्यांश्च भक्तिततः ।  
नतोऽस्मि वाङ्मनःकायैरज्ञानध्वान्तभास्करान् ॥२॥

वार्त्तिकाचलदण्डेन मथित्वा योगसागरम् ।  
उद्धृत्यामृतसारोऽयं ग्रन्थकुम्भे निधीयते ॥३॥

तत्र पुरुषस्यात्यन्तिकस्वरूपावस्थितेर्हेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधो योग इति योगद्वय-  
साधारणं लक्षणम् । व्युत्थानकालीनश्च यत्किञ्चिच्चित्तवृत्तिनिरोधो नात्यन्तिकस्व-  
रूपावस्थितिरूपमोक्षे हेतुः, जन्मबीजवशेषाद्यनुच्छेदकत्वात्, अखिलवृत्तिसंस्कारानुच्छे-  
दकत्वाच्च, अतस्तत्र नातिव्याप्तिः । प्रलयकालीनस्य च वृत्तिनिरोधस्य व्यावर्तनाय  
आत्यन्तिकेति । स्वरूपावस्थितिश्चौपाधिकरूपनिवृत्तिः । स्वरूपस्य वाऽप्रच्यवः । तथा  
च स्मर्यते—“मुक्तिर्हि त्वाऽन्यथाभावं स्वरूपेण व्यवस्थितः ।” इति । तत्र सम्प्रज्ञाता-  
ख्ययोगस्य मोक्षहेतुत्वं तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा वलेशाद्युच्छेदकत्वात् । असम्प्रज्ञातयोगस्य  
चाखिलवृत्तिसंस्कारदाहद्वारा प्रारब्धस्याप्यतिक्रमेणेति वार्त्तिकेऽस्माभिः प्रपञ्चितम्  
(यो० १.१७।१८), संक्षेपतश्चाग्रेऽपि वक्ष्यामः । योगाङ्गेषु ज्ञानभक्तिकर्मादिषु च  
योगशब्दो योगसाधनत्वान्मोक्षोपायत्वाच्च गोण इति ।

अथ का निरोद्धव्याश्चित्तवृत्तयः, को वा निरोध इति उच्यते । प्रमाणविपर्यय-  
विकल्पनिद्रास्मृतय इति (यो० १.६) पञ्चविधाश्चित्तवृत्तयः । इच्छाकृत्यादिरूप-  
वृत्तीनां चैतन्निरोधेनैव निरोधो भवति । तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।



इन्द्रियद्वारा या बुद्धेर्यथार्था वृत्तिः सा प्रत्यक्षं प्रमाणम् । ईश्वरसंग्रहाय सत्त्ववृत्तेः तज्जातीयत्वमत्र विवक्षणीयम् । बुद्धिवृत्तिश्च प्रदीपस्य शिखावद्बुद्धेरप्रभागी येन चित्तस्यैकाग्रताव्यवहारो भवति । स एवाग्रभाग इन्द्रियद्वारा बाह्यार्थं संयुज्य अर्थाकारेण परिणमते मूपानिक्षिप्तद्रवताञ्जवत् । तथा च साङ्ख्यसूत्रम् 'भागगुणान्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पतीति' (सां० ५।१०७) इति । बुद्धिविषयेषु सम्बन्धार्थं सर्पति गच्छति इति हेतोर्वृत्तिर्न बुद्धेर्भागोऽग्नेः स्फुल्लिङ्गवद्विभवतांशो बुद्धेरिच्छादिवद् गुणश्च न भवति, द्रव्यस्यैव क्रियासम्भवादित्यर्थः । सा च वृत्तिः पुरुषे प्रतिबिम्बिता यद्भासते तदेव प्रमाणस्य फलं प्रमेत्युच्यते । तदेव च द्रष्टुर्वृत्तिसारूप्यमप्युच्यते ।

लिङ्गजन्या वृत्तिरनुमानं प्रमाणम्, शब्दजन्या वृत्तिश्च शब्दप्रमाणमिति । फलं तु सर्वत्र पौरुषेयो बोध एव, पुरुषार्थमेव करणानां प्रवृत्तेरिति ।

विपर्ययवृत्तिश्च मिथ्याज्ञानं दोषजन्यम् । विकल्पवृत्तिस्तु 'राहोः शिरः' 'पुरुषस्य चैतन्यम्' इत्यादिरूपा । तस्याश्च विशेषदर्शनानिवर्त्यमात्रेण विपर्ययाद् भेदः ।

निद्रावृत्तिश्च 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यादिस्मृतिहेतुरनुभवः सुषुप्तिकालीनः । सुखादिविषयः । स्मृतिश्च संस्कारमात्रजन्या वृत्तिः । इति वृत्तयो व्याख्याताः ।

निरोधो व्याख्यायते । निरोधो न नाशोऽभावसामान्यं वा, अभावानङ्गीकारात्, वक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वानुपपत्तेश्च । किन्तु वृत्तिरन्निरोधो चित्तस्य स्वविषये प्रवृत्तिनिवृत्ती भावरूपे एव गतिप्रत्यागतित्वपुरुषप्रयत्नजन्ये; प्रवृत्तिनिवृत्त्योरन्योन्याभावत्वे विनिगमकाभावात्<sup>१</sup>, प्रवृत्तिनिवृत्त्यौदासीन्यरूपत्रैविध्यानुपपत्तेश्चेति । अतश्च भावत्वाविशेषाद् वृत्त्येव<sup>२</sup> निरोधेनापि संस्कारो जन्यते; संस्कारवृद्धिं विनाऽनुदिनं योगस्य कालवृद्धौ नियामकान्तरासम्भवादिति दिक् ।

योगसामान्यं लक्षितम् । तद्विशेष उच्यते । स योगो द्विविधः—सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च । तत्र सम्यक्ज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिन्निरोध इति सम्प्रज्ञातो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधविशेषः । तथा च ध्येयसाक्षात्काराख्यफलोपहितनिरोधत्वं सम्प्रज्ञातत्वम् । एकाग्रताविशेषरूपधारणादित्रयक लीनानां निरोधानां प्रलयादिकालीननिरोधानां च व्यावर्तनायोपहितान्तम् । धारणादित्रयकालीनस्तु निरोधो न साक्षात्कारहेतुः, विषयान्तरवासनायाः जनवत्ततया प्रतिबन्धात्, योगजधर्मनाश्याधर्मेण प्रतिबन्धाच्चेति । सम्प्रज्ञातरूपो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधश्च विषयान्तरसञ्चाराख्यप्रतिबन्धनिवृत्तिरूपतया विषयान्तरवासनाभिभवद्वारा च धर्मविशेषद्वारा च ध्येयसाक्षात्कारे हेतुर्भवति ।

१. विनिगमनाभावात्—पा० २ पु० ।

२. वृत्त्या इव इति च्छेदः ।



चित्तं हि<sup>१</sup> स्वत एव सर्वार्थग्रहणक्षमं विभु च भवति । तमसाऽऽवरणादेव तु न सदा सर्वं गृह्णाति । अतस्तमोवर्धकानां विषयान्तरसञ्चारस्वासनापापादीनां निरोधाख्य-  
योगतः क्षये स्वयमेव ध्येयं वस्तु साक्षात्क्रियते चित्तेनेति योगशास्त्रसिद्धान्तः ।  
सम्प्रज्ञातस्य चातुर्विध्यमग्रे वक्ष्यते ।

असम्प्रज्ञातो लक्ष्यते । न किञ्चित्सम्प्रज्ञायतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या असम्प्रज्ञात-  
योगः सर्ववृत्तिनिरोधः । तदा संस्कारमात्रशेषं चित्तं तिष्ठति, अन्यथा व्युत्पत्त्याना-  
नुपपत्तेः । तस्य च लक्षणं तत्त्वज्ञानसंस्कारदाहकत्वे सति सर्ववृत्तिनिरोधत्वम् । प्रलया-  
दिकालीननिरोधव्यावर्तनाय सत्यन्तम् ।

इदानीमभ्यहितत्वादादौ<sup>२</sup> योगफलमुच्यते । तत्र तावद्योगद्वयसाधारणं दृष्टं  
फलं सम्प्रज्ञातस्य वृत्तिनिरोधेन<sup>३</sup> वृत्त्युत्पद्यदुःखभोगनिवृत्तिः ।<sup>४</sup> अदृष्टं च फलं सम्प्रज्ञातस्य  
पूर्वोक्तद्वारैर्ध्ययसाक्षात्कारः, 'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणोऽग्नीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थित-  
दञ्जनता समापत्तिः' (यो० १।४१) इति सूत्रात् । ततश्चाविद्यादिक्लेशनिवृत्त्या  
मोक्षः । तथा सत्यां कामनायां भूतेन्द्रियप्रकृतिजयोत्थः स्वेच्छाभोगश्च<sup>५</sup> भवति ।  
असम्प्रज्ञातस्य त्वदृष्टं फलं तत्त्वज्ञानसाधारणानामखिलसंस्काराणां प्रारब्धकर्मणां  
च दाहाच्छीघ्रं स्वेच्छया मोक्षः<sup>६</sup> । तथा हि तत्त्वज्ञानेन तावत् स्वसंस्कारः प्रारब्ध-  
कर्म च नातिक्रमितुं शक्यते, अविरोधात् 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ  
सम्पत्स्ये' (छा० ६।१।४।२) इति श्रुत्या ज्ञानिनो मोक्षे प्रारब्धनिमित्तककिञ्चिद्विलम्ब-  
सिद्धेश्च; ज्ञानेन प्रारब्धनाशे जीवन्मुक्तिश्रुतिस्मृतिविरोधाच्च; प्रारब्धकर्मणां ज्ञान-  
नाशत्वस्य वेदान्तसूत्रेण प्रतिषिद्धत्वाच्च । योगस्य तु प्रारब्धकर्मनाशकत्वे<sup>७</sup> बाधका-  
भावेन,

“विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि ।

प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात् ॥”

इति विलम्बाभावश्रवणेन च प्रारब्धकर्मनाशकत्वमस्ति । अतः प्रारब्ध-  
कर्मणोऽप्यतिक्रमेण शीघ्रमोक्षार्थिनो ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमप्यसम्प्रज्ञातयोगोऽपेक्ष्यत इति ।  
अधिकं तु वार्तिकेऽस्माभिः प्रपञ्चितम् । एतेनासम्प्रज्ञाताभावेऽपि प्रारब्धभोगानन्तरं

१. च—पा० २ पु० ।

२. योगयोः—पा० २ पु० ।

३. प्रवृत्ति—पा० १ पु० ।

४. दुःखनिवृत्तिः—पा० २ पु० ।

५. स्वेच्छातो गतिश्च—पा० १ पु० ।

६. स्वेच्छाभोगश्च—इत्यधिकम् २ पु० ।

७. प्रारब्धनाशकत्वे—पा० १ पु० ।



ज्ञानिनां<sup>१</sup> मोक्षो भवत्येवेति सिद्धान्तो न विरुध्यते । तत्र च प्रमाणम् 'तस्य'<sup>२</sup> ताव-  
देव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इत्यादिश्रुतिः । अजिज्ञाविनिवृत्तो<sup>३</sup> बीजाभावात्पुनर्जन्मानु-  
पपत्तिश्च । विमोक्ष्ये प्रारब्धकर्मणः साक्षाद्विमुक्तो भविष्यतीत्यर्थः ।

स्यादेतत् ।

“योगाग्निदंहति क्षिप्रमशेषं पापजं रजः ।<sup>४</sup>

प्रसभं जायते ज्ञानं साक्षान्निर्वाणसिद्धिदम् ॥”

इत्यादिस्मृत्येकवाक्यतया योगस्य कर्मनाशकत्ववाक्यानि सम्प्रज्ञातयोग-  
पराण्येव सन्तिवति । मैवम् । उक्तवाक्येन हि सम्प्रज्ञातयोगस्य ज्ञानप्रतिबन्धक-  
पापमात्रनाशकत्वमवगम्यते, न सर्वकर्मनाशकत्वम्; तथा सति 'ज्ञानाग्निः सर्व-  
कर्माणि भस्मसात्कुर्वतेऽर्जुन, इत्यादि शास्त्रोक्तं ज्ञानस्य सर्वकर्मनाशकत्वमपि  
नोपपद्येत, ज्ञानहेतुना सम्प्रज्ञातयोगेनैव सर्वकर्मनाशात् । यत्तु योगस्य सर्वकर्मनाशकत्वं  
श्रूयते 'योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्' इति तदसम्प्रज्ञातयोगपरमेव । अतो  
नानयोर्वाक्ययोः सम्प्रज्ञातपरत्वेनैकवाक्यत्वं घटते । तस्मात्सम्प्रज्ञातयोगतज्जन्य-  
ज्ञानाभ्यामनाशस्य प्रारब्धकर्मणोऽसम्प्रज्ञातयोगनाशत्वमेव 'योगाग्निः, इत्यादि-  
वाक्यार्थः । किञ्च ज्ञानस्य योगस्य च कर्मनाशकत्वं सहकार्युच्छेदेन फलाक्षमी-  
करणमात्रम् । इदमेव च दाहः । तथा हि । जानेनाविद्यादिक्लेशक्षये सति क्लेशा-  
रूपसहकार्युच्छेदादेव कर्मणा विपाक आरब्धं न शक्यते, 'सति मूले तद्विपाकः—'  
(यो० २।१३) इति सूत्रेण कर्मणां स्वमूले क्लेशे सत्येव विपाकारम्भवचनाद्व्यास-  
भाष्येण तथा व्याख्यानाच्च । अतो ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वदाहकत्ववचनं न्याय-  
सिद्धानुवादमात्रम् । एवमेवासम्प्रज्ञातयोगेनापि भोगहेतुवासनरूपः कर्मणां सहकार्य-  
बोच्छिद्यते ।<sup>५</sup> व्युत्थानसंस्काराणां निरोधसंस्कारैर्बलवतरैरुच्छेदस्य सूत्रभाष्याभ्या-  
मुक्तत्वात्स्वानुभवसिद्धत्वाच्च । अतोऽसम्प्रज्ञातयोगपरम्परया अखिलवासनाक्षये सति  
प्रारब्धफलकमपि कर्म फलसम्पत्तये न समर्थं वासनाया अपि कर्मसहकारित्वस्य सूत्र-  
भाष्ययोरवधृतत्वात् । ततश्चासमाप्तभोगकमेव प्रारब्धं कर्म स्वाश्रयचित्तनाशेन  
नश्यति, पुरुषप्रयोजनं विना चित्तस्यावस्थानाभावात् पुरुषार्थस्य चित्त<sup>६</sup> स्थिति-  
हेतुत्वात् । तस्मादसम्प्रज्ञातयोगस्य प्रारब्धकर्मदाहकत्वं युक्तितोऽपि सिद्धमिति  
दिक् ।

१. ज्ञानिनो—पा० १ पु० ।

२. तत्र—१ पु० ।

३. जीवा—पा० १ पु० ।

४. पापपञ्जरम्—पा० २ पु० ।

५. उत्साद्यते—पा० २ पु० ।

६. चिति—पा० २ पु० ।



तदेवं योगयोः फलमुक्तम् । इदानीं सम्प्रज्ञातयोगस्य अवान्तरभेदा उच्यन्ते । तत्र सम्प्रज्ञातश्चतुर्विधः—वितर्कानुगतः, विचारानुगतः, आनन्दानुगतः, अस्मितानुगत इति साक्षात्कारविशेषेषु तान्त्रिकं वितर्कादिपरिभाषाचतुष्टयम् । तैः सफलैः साक्षात्कारैः अनुगता उपहिताश्चित्तवृत्तिनिरोधावितर्कानुगतादिसंज्ञका भवन्ति । वितर्कादिकं क्रमिकं भूमिकाचतुष्टयमुच्चारोहि<sup>१</sup> क्रमिकसोपानपरम्परावत् । अतो वितर्कादीनां<sup>२</sup> क्रमेणैव तदनुगतत्वेन निरोधस्यापि क्रमः कथ्यते, स्वतो निरोधे क्रमाभावात् । वितर्कादिक्रमं औत्सर्गिकः । एकदा चित्तस्य परमसूक्ष्मप्रवेशस्य<sup>३</sup> प्रायशोऽसम्भवात् । तथा च स्मर्यते—

“योगारम्भे मूर्तंहरिममूर्तमथ चिन्तयेत् ।

स्थूले विनिर्जितं<sup>४</sup> चित्तं ततः सूक्ष्मे शनैनंयेत् ॥” इति ।

तथा स्थूलादिविषयेषु रागादपि उत्तरोत्तरभूमिषु चित्तसमाधानं न सम्भवति । अतः स्थूलादिसाक्षात्कारेण तत्र तत्र दोषदृष्ट्या उत्तरोत्तरभूम्यारोहो राजमार्गः । यस्य तु कदाचिद्विश्वरूपप्रसादादावेवोत्तर<sup>५</sup> भूम्यारोहो भवति तेन च पूर्वभूमिकाभ्यासस्तत्सिद्धिकामनां विना न कार्यः, उत्तरभूमिकारोहस्य फलस्य जातत्वात् । तदुक्तं भाष्यकारैः—‘ईश्वरप्रसादादजितोत्तरभूमिकस्य नाधरभूमिषु<sup>६</sup> विनियोगस्तदर्थस्यान्यत एव सिद्धेः’ इति ।

एतच्च भूमिकाचतुष्टयमेकस्मिन्नेवालम्बने क्रमात्कर्तव्यम्, अन्यथा पूर्वपूर्वोपासनात्यागदोषापत्तेः । चित्तचाञ्चल्यदोषप्रसङ्गाच्च । तद्यथा यद्विराट्शरीरं चतुर्भुजादिकं वा शरीरं<sup>७</sup> घटादिकं वा पङ्क्तिव्यष्टितत्त्वसङ्घातं समष्टिव्यष्ट्यात्मकमधिकृत्य प्रथमं भावना प्रवर्तते तदालम्बनमित्युच्यते । तत्रालम्बने प्रथमं स्थूलाकारधारणाध्यानसमाधिभिः स्थूलगताशेषाणामतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टानां गुणदोषरूपाणामश्रुतामतानां साक्षात्कारः स वितर्क इत्युच्यते । स्थूलगन्देन च भूतानीन्द्रयाणि चात्र गृह्यन्ते । तगोत्रपादिसाधनैर्ध्रुवादीनां चतुर्भुजादिसाक्षात्कारद्वयं साक्षात्कारो विलक्षणः । तेषां हि तपोध्यानादिना तुष्टः परमेश्वरः स्वयं शरीरं निर्माय पुरः प्रकटीभूय वागादिव्यवहारं चक्रे । योगिनस्तु योगबलेन वैकुण्ठश्चेतद्वीपादिस्थमेव चतुर्भुजादिशरीरमन्यत्र स्थिताः पश्यन्ति । — च वागव्यवहारादिकं न

१. उच्चारोहे—पा० २ पु० ।

२. वितर्काणां—पा० १ पु० ।

३. सूक्ष्मे प्रवेशस्य—पा० २ पु० ।

४. विनिर्मितं—पा० २ पु० ।

५. प्रसादादेवोत्तर—पा० १ पु० ।

६. प्रसादाज्जितोत्तरभूमिषु—पा० २ पु० ।

७. स्वशरीरं—पा० २ पु० ।



सम्भवति । तथा चतुर्भुजादिशरीरस्य<sup>१</sup> बाह्याभ्यन्तराखिलगुणदोषादिकमतीतारूपं पश्यन्तीति विशेषः । इति वितर्को व्याख्यातः ।

अथ विचारो व्याख्यायते । तत्रैवालम्बने स्थूलाकारसाक्षात्कारानन्तरं स्थूलाकारदृष्टिं त्यक्त्वा क्रमेण प्रकृतिपर्यन्तसूक्ष्माकारधारणादित्रयेण यः पूर्ववदशेष-विशेषतस्तत्तत्सूक्ष्माकारसाक्षात्कारः स विचार इत्युच्यते । सूक्ष्मशब्दस्य कारणार्थकतया तत्र<sup>२</sup> तन्मात्राहङ्कारमहत्तत्त्वप्रकृतयः सूक्ष्मशब्देन गृह्यन्ते ।

ननु स्थूलालम्बने कथं सूक्ष्मदृष्टिर्यथार्था स्यादिति चेन्न । सर्वेषां शरीरघटादीनां षड्विंशतितत्त्वकार्यतया कार्यकारणाभेदेन षड्विंशतितत्त्वरूपत्वात् । तत्रापि कार्यरूपताया अस्थिरत्वेन कारणरूपताया एव सत्यत्वात् । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवं सत्यम्' (छा० ६) इति श्रुतेः ।

ननु तथापि सूक्ष्माकारस्यादृष्टजातीयस्य कथं भावना स्यादिति चेन्न । श्रुत-मतप्रकारैरेव सामान्यतो भावनासम्भवात् अश्रुतामतविशेषस्य च योगजधर्मबलेन ग्रहणात् । एवं सर्वत्र । इति विचारो व्याख्यातः ।

अथानन्दो व्याख्यायते । तत्रैवालम्बने सूक्ष्माकारसाक्षात्कारानन्तरं तामपि दृष्टिं त्यक्त्वा चतुर्विंशतितत्त्वानुगते सुखरूपपुरुषार्थे धारणादित्रयेण यः पूर्ववदशेष-विशेषतः सुखाकारसाक्षात्कारः स आनन्द इत्युच्यते, ज्ञानज्ञेययोरभेदोपचारात् । यद्यपि प्रकृतेस्त्रिगुणात्मकत्वेन सुखदुःखमोहावपि सर्वत्र स्तः, सुखरागेणैव संसारादात्मदर्शनप्रतिबन्धाच्च तदेव मुख्यतोऽशेषविशेषतो योगेन द्रष्टव्यम्, यथा तत्र दोषदर्शनेन दुःखदृष्ट्या वैराग्यं स्यादित्याशयेनानन्दमात्रे योग उपदिष्ट इति मन्तव्यम् । मोक्षधर्मे तु धर्मधर्म्यभेदेन धर्मान्तरवदानन्दमपि चतुर्विंशतितत्त्वेवैव प्रवेश्य सम्प्रज्ञात-योगस्य त्रैविध्यमेव प्रोक्तम्—

“वितर्कश्च विचारश्च विवेकश्चोपजायते ।

मुनेः समादधानस्य प्रथमं योगमादितः ॥” इति ।

प्रथमं योगं सम्प्रज्ञातं समादधानस्य कुर्वतः मुनेः आदितः क्रमेण वितर्कादित्रयं जायत इत्यर्थः । तत्र च विवेको वक्ष्यमाणास्मितेति । इत्यानन्दो व्याख्यातः ।

अथास्मिता व्याख्यायते । एवं भूमिकाक्रमेण स्थूलसूक्ष्मानन्दानां स्वरूपाणि दोषबहुलानि साक्षात्कृत्य तेभ्यो विरज्य तत्रैवालम्बने यः कूटस्थविभुचिन्मात्रत्वादिरूपैस्तेभ्यो विवेकत आत्माकारसाक्षात्कारः सोऽस्मितेत्युच्यते 'देहादिभिन्नोऽस्मि' इत्येतावन्मात्रा<sup>३</sup> कारत्वात् । आत्मज्ञानानन्तरं च ज्ञातव्यं नास्तीत्यतोऽस्मिता चरम-

१. तथाऽस्य—पा० २ पु० ।

२. अत्र—पा० २ पु० ।

३. एतन्मात्रा—पा० २ पु० ।



भूमिका भवति । अस्मैव चात्मसाक्षात्कारस्य पराकाष्ठा धर्ममेघसमाधिरित्युच्यते यस्योदये ज्ञानेऽप्यलम्प्रत्ययरूपेण परवैराग्येण असम्प्रज्ञातयोगो जायत इति । अस्याश्चास्मिताया द्वौ विषयौ चतुर्विंशतितत्त्वविवेकत आत्मसामान्यं पञ्चविंशतितत्त्वविवेकतः परमात्मा च । तथोरप्यौत्सर्गिको भूमिकाक्रमोऽस्ति,

“चतुर्विंशतितत्त्वैर्म्यः ख्यातो यः पञ्चविंशकः ।

विवेकात्केवलीभूतः षड्विंशं<sup>१</sup> सोऽनुपश्यति ॥”

इति स्मृतेः, जीवापेक्षयापि परमात्मनः सूक्ष्मत्वाच्च । जीवस्य हि स्वरूपं<sup>२</sup> प्रत्यक्षमस्ति, तत्रैव ज्ञानेऽपरिच्छिन्नकूटस्थत्वादिज्ञानस्यैवात्मसाक्षात्काररूपत्वात् । परमात्मनस्तु तदप्रत्यक्षमिति<sup>३</sup> । तत्रात्मसामान्यविषयको योगः सत्त्वपुरुषान्यताख्याति-शब्देन स्थले स्थले सूत्रभाष्ययोरुक्तः । परमात्मयोगस्तु ‘ईश्वरप्रणिधानाद्वा’ (यो० १।२३) इति सूत्रेण तद्भाष्येण चोक्तः । तथा मात्स्यकौर्मयोरपि—

“योगी च त्रिविधो ज्ञेयो भौतिकः साङ्ख्य एव च ।

तृतीयोऽन्त्याश्रमी प्रोक्तो योगमुत्तममास्थितः ॥

प्रथमा भावना पूर्वं साङ्ख्ये त्वक्षरावना ।

तृतीये चान्तिमा<sup>४</sup> प्रोक्ता भावना पारमेश्वरी ॥” इति ।

अत्र भूतशब्दोऽखिलजडोपलक्षकः<sup>५</sup> । अन्त्याश्रमी परमहंसः प्रथमा भूत-भावना । पूर्वं प्रथमयोगिनि । साङ्ख्ये तु मध्यमयोगिन्यक्षरभावना कूटस्थचित्तामान्य-भावना । तृतीये च परमहंसेऽन्तिमा अन्ते कर्तव्या पारमेश्वरी परमात्मगोचरा भाव-नेत्यर्थः । अतः सर्वेषु सम्प्रज्ञातेषु मध्ये परमेश्वरयोग एव श्रेष्ठः । तथा कौर्मोऽप्युक्तम्—

“यत्र पश्यसि<sup>६</sup> चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम् ।

मामेकं स महायोगो भाषितः पारमेश्वरः ॥

ये चान्ये योगिनां योगाः श्रूयन्ते ग्रन्थविस्तरे ।

सर्वे ते ब्रह्मयोगस्य कलां नाहन्ति षोडशीम् ॥

यत्र साक्षात्प्रपश्यन्ति विमुक्ता विश्वमीश्वरम् ।

सर्वेषामेव योगानां स योगः परमो मतः ॥” इति ।

१. षड्विंशः—पा० १ पु० ।

२. स्वरूपज्ञानं—पा० २ पु० ।

३. तदप्यप्रत्यक्षमिति—पा० २ पु० ।

४. चरमा—पा० २ पु० ।

५. लक्षणः—पा० १ पु० ।

६. पश्यति—पा० २ । ३ पु० ।



नन्वस्मितायाः कथमचेतनेषु घटाद्यालम्बनेषु सम्भव इति चेन्न । कारणरूपेण जीवेश्वरयोः सर्वत्रानुगमात्, मुक्तात्मनां च विभुत्वेन सर्वत्रानुगमादिति ।

तदेवं सम्प्रज्ञातयोगस्य चत्वारो भेदा निरूपिताः<sup>१</sup> । तेषु च वितर्काद्याश्चत्वारः स्थूलादिसाक्षात्काराः समापत्तिशब्देनापि तन्त्रे परिभाषिताः । तत्र च वितर्कानुगत-विचारानुगतयोर्धौ वितर्कविचारो विशेषणे तावपि प्रत्येकं द्विविधो भवतः । तयोर्वितर्कः सवितर्कनिर्वितर्करूपेण द्विधा । विचारश्च सविचारनिर्विचाररूपेण द्विधा । तद्यथा । भूतेन्द्रियरूपस्थूलसाक्षात्कारो यो वितर्क इत्युक्तः स चेच्छब्दार्थज्ञानानां विकल्पेन मिश्रितो भवति तदा सवितर्कसमापत्तिरित्युच्यते । तेन शून्या च निर्वितर्क-समापत्तिरिति ।

अथ कः शब्दार्थज्ञानविकल्प इति । उच्यते । हरिरिति शब्दो हरिरित्यर्थो हरिरिति ज्ञानम्, इत्येवं त्रयाणां शब्दार्थज्ञानानामेकाकारत्वेनाभेदभ्रमः पूर्वोक्त-विकल्परूपः शब्दार्थज्ञानविकल्पः । तद्युक्तश्च स्थूलसाक्षात्कारः सवितर्कः सविकल्प<sup>२</sup> इति चोच्यते । तच्छून्यश्च स्थूलसाक्षात्कारो निर्वितर्को निर्विकल्प इति चोच्यते । निर्विशेषणात्मादिसाक्षात्कारो निर्विकल्प<sup>३</sup> इत्याधुनिकतात्त्विकप्रलापस्त्वप्रामाणिक एवेति मन्तव्यम् । अत्र<sup>४</sup> शब्दादिविकल्पो विकल्पसामान्योपलक्षकः, युक्तिसाम्यात् । तेन च सवितर्का समापत्तिरपरप्रत्यक्षमुच्यते, विकल्परूपाविद्यालेशसम्पर्कात् । निर्वितर्का तु समापत्तिः परप्रत्यक्षमुच्यते<sup>५</sup>, आरोपसामान्याभावात् । इति वितर्कस्य द्वैविध्यमुक्तम् ।

विचारस्य द्वैविध्यमुच्यते । तन्मात्रादिप्रकृतिपर्यन्तसूक्ष्मसाक्षात्कारो यो विचार इत्युक्तः स चेत्स्वस्वविकाराणां देशकालादीनां चानुभवेन मिश्रितो भवति तदा सविचारसमापत्तिरुच्यते । तेन शून्या च निर्विचारसमापत्तिरिति । तदित्थं सम्प्रज्ञातस्य भेदा उक्ताः ।

सर्वे च ते<sup>६</sup> सम्प्रज्ञातयोगाः सालम्बनयोगा इति सबीजयोगा इति चोच्यन्ते, ध्येयरूपालम्बनयोगात्, तदाऽपि वृत्तिबीजसंस्कारोत्पत्तेश्चेति ।

सम्प्रज्ञातयोगिनः चतुर्भूमिका भवन्ति । तद्यथा प्रथमकल्पिको<sup>७</sup> मधुभूमिकः

१. प्रदर्शिताः—पा० ३ पु० ।

२. वितर्क इति—पा० १ पु० । सविकल्प—पा० ३ पु० ।

३. निर्विकल्पक—पा० २ पु० ।

४. न च—पा० १ पु० ।

५. उच्यते—इति नास्ति १ पु० ।

६. सर्वे चैते—पा० २ । ३ पु० ।

७. प्राथमिको—पा० २ पु० ।



प्रज्ञाज्योतिरतिरिक्तान्तर्भावनीयश्च । तत्र सचितकंसमापत्तिमान् प्रथमः, शब्दार्थज्ञान-  
विकल्पापरित्यागात् । निर्वितकंसमापत्तिमान् द्वितीयः । स च ऋतुम्भरप्रज्ञ इत्युच्यते,  
तत्प्रज्ञायामसदारोपसम्पर्कमम्भवात् । इयं च भूमिका मधुमत्यप्युच्यते । मधुवत् तृप्ति-  
हेतुना प्रज्ञया योगान् । ततश्च क्रमेण निर्विचारसमापत्तिनिष्ठया प्रकृतिपर्यन्तज्यो-  
तृतीयः । अस्यामेव च भूमिकायामानन्दानुगतस्य प्रवेशः । ततश्चास्मितानुगतयोग-  
निष्पत्तिपर्यन्तश्चतुर्थः । अस्याश्च भूमिकाया धर्ममेघाख्यसमाधिना परिसमाप्तिर्भवति ।  
धर्ममेघसमाधिस्तु<sup>१</sup> तदोच्यते यदा सिद्धिकामनात्यागेन निरन्तरोत्पन्नात् सत्त्वपुरुषा-  
न्यताख्यातिप्रवाहात् सवासनाविद्यानिवृत्त्या प्रयोजनाभावेन तस्यामपि ख्याती  
दुःखात्मिकायामलम्प्रत्ययरूपं परवैराग्यं जायते यदुत्तरमसम्प्रज्ञातयोग उदेतीति सर्वज्ञ-  
तादिजनकं प्रकृष्टं धर्मं मेहति वर्पतीति व्युत्पत्त्या धर्ममेघः समाधिरुच्यते । अस्यामव-  
स्थायां जीवन्मुक्त इत्युच्यते ।

नन्वेवं किं सर्वज्ञतादिकं विना जीवन्मुक्तिपरममोक्षो न स्तः ? न न स्तः,  
भाष्यवाक्यात् । तद्यथा । सर्वज्ञत्वपर्यन्ताखिलयोगसिद्धिख्याख्यानानन्तरं भाष्यम्—  
“ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा<sup>२</sup> प्राप्तविवेकजज्ञानस्येतरस्य वा न दग्धवलेशवीजस्य ज्ञाने  
पुनरपेक्षा काचिदस्ति सत्त्वशुद्धिद्वारेण त्वेतत्समाधिजमैश्वर्यं ज्ञानं चोपक्रान्तम् ।  
परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते । तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरक्लेशाः । क्लेशाभावात्  
कर्मविपाकाभावः । चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य<sup>३</sup> इत्यत्वेनोप-  
तिष्ठन्ते । तत्पुरुषस्य कैवल्यम् ।” (यो० भा० ३।५५) इति । अत्र विवेकजज्ञानं  
विवेकख्यातेः सिद्धिः सर्वज्ञता पूर्वसूत्रप्रोक्ता । सत्त्वशुद्धिस्तु भुक्तवैराग्यमिति । अतः  
सार्वज्ञ्यादिपर्यन्तधर्ममेघसमाध्यनुत्तादेऽपि अभिमानरागद्वेषादिरूपभवबीजदाहेनैव  
मुक्तिद्वयमिति साङ्ख्यसिद्धान्तोऽत्राप्यनुमतः<sup>४</sup> । असम्प्रज्ञातयोगस्तु अखिलवासनाक्षयेण  
प्रारब्धातिक्रमद्वारा ऋटिति स्वेच्छया मोक्ष एवोपयुज्यते न तु नियमेनेति प्रोगेवोक्तम् ।  
इति सम्प्रज्ञातः प्रपञ्चितः ।

इदानीमसम्प्रज्ञातः प्रपञ्च्यते । असम्प्रज्ञातयोगो द्विविधः—उपायप्रत्ययो भव-  
प्रत्ययश्च । शास्त्रोक्तोपायानुष्ठानादिहेतुलोके योऽसम्प्रज्ञातो जायते स उपायप्रत्ययः  
प्रत्ययशब्दस्य कारणवाचित्वात् । उपायाश्च श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाविप्रज्ञारूपा इति  
(यो० १।२०) सूत्रेणोक्ताः तत्र श्रद्धा योगे प्रीतिः । वीर्यं चित्तस्य धारणा । स्मृति-  
ध्यानम् । समाधिर्योगस्य चरमाङ्गम् । प्रज्ञा सम्प्रज्ञातयोगजन्यसाक्षात्कारः । एतानि  
क्रमेण वक्ष्यमाणपरवैराग्यद्वारेण असम्प्रज्ञातस्योपाया भवन्ति । तेषां चोपायानामिति-

१. इच—पा० २ पु० ।

२. च—पा० २ पु० ।

३. ज्ञेयत्वे—पा० १ पु० ।

४. अनुमन्तव्यः—पा० २ पु० । उपपादितः—पा० ३ पु० ।



शीघ्रतीव्रतरानुष्ठानादासन्नतरोऽसम्प्रज्ञातपर्यन्तयोगस्तत्फलं मोक्षश्च भवति । उपायानुष्ठानमान्धेऽपि चेश्वरप्रणिधानादासन्नतरो ती भवतः, परमेश्वरप्रणिधानेन तदनुग्रहादिति ।

अथ क ईश्वरः किं वा तत्प्रणिधानम् ? उच्यते । अविद्यादिपञ्चकलेशैर्धर्मधर्मैस्तद्विपाकैः संस्कारसामान्यैश्च कालत्रयेऽप्यपराभृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः । स च 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० १।१।१) इत्यादिवेदान्तसूत्रैरशेषविशेषतो मीमांसितः । अतोऽत्र दिङ्मात्रेणोच्यते । तस्य साम्यातिशयशून्यमैश्वर्यं सार्वज्ञ्यं च; स च सर्वेषां ब्रह्मविष्णुहारादीनामपि गुरुः पिता, अन्तर्यामिविधया वेदादिद्वारा च ज्ञानचक्षुःप्रदश्च, तस्य प्रणवो नाम, प्रणवपूर्वकं च तदनुचिन्तनं साक्षात्कारपर्यवसायि प्रणिधानमिति । अतः परमेश्वरे संयमोऽसम्प्रज्ञातपर्यन्तयोगो मोक्षे च मुख्यकल्पः, आसन्नतरतासम्पादनात्, जीवात्मसंयमस्तु तत्रानुकल्प इति सिद्धम् । किञ्च, ईश्वरप्रणिधानाद्व्याध्यादिरूपा योगस्यान्तराया अपि न भवन्ति । अतोऽपि तदेव मुख्यकल्प इति । तथा चास्य मुख्यकल्पत्वं स्मर्यते—

“तस्मान्मुमुक्षोः सुमुखो मार्गः श्रीविष्णुसंश्रयः ।

चित्तेन चिन्तयन्नेव वञ्चयते ध्रुवमन्यथा ॥” इति ।

तदेवमुपायप्रत्ययो व्याख्यातः ।

अथ भवप्रत्ययो व्याख्यायते । प्राग्भवीयसाधनानुष्ठानादौत्पत्तिकज्ञानवैराग्याभ्यामिच्छामात्रेण योऽसम्प्रज्ञातो विदेहप्रकृतिलयानां देवताविशेषाणां जायते स भवप्रत्यय उच्यते, जन्ममात्रकारणकत्वत् । यथा हिरण्यगर्भादीनां योगनिद्रादिकम् । तत्र विदेहा नाम स्थूलदेहनिरपेक्षेण लिङ्गदेहेनाखिलव्यवहारक्षमा हिरण्यगर्भादयः । ये तु प्रकृत्युपासनया तच्छब्दपरमेश्वरोपासनया वा ब्रह्माण्डं भित्त्वा महत्तत्त्वपर्यन्तावरणान्यतीत्य प्रकृत्यावरणं गता ईश्वरकोटयस्ते प्रकृतिलया उच्यन्ते इति ।

सम्प्रज्ञातयोगस्य तु भवप्रत्ययरूपविशेषो न सम्भवति, धारणाध्यानसमाधीनां सम्प्रज्ञातयोगस्यान्तरङ्गत्वेन तेषां निष्पत्तौ तस्मिन्नेव जन्मनि सम्प्रज्ञातावश्यम्भावात् । अतः सम्प्रज्ञाते उपायप्रत्ययभवप्रत्ययविभागः सूत्रभाष्ययोर्न कृत इति ।

स च द्विविधोऽप्यसम्प्रज्ञातो ध्येयाभावान्निरालम्बनयोग उच्यते । अभ्यस्यमानश्च क्रमेणाखिलसंस्कारदाहकत्वान्तिर्हीजयोग उच्यते ।

असम्प्रज्ञातयोगो हि निरोधरूपोऽपि नवनवसंस्कारातिशयमभ्यासाज्जनयति, येन संस्कारतारतम्येन दिनपक्षभासादिपर्यन्तकालवृद्धिः क्रमेण योगस्य भवति । स संस्कारो यथा यथाऽतिशेते तथा तथा तत्त्वज्ञानपर्यन्ताखिलवृत्तिसंस्कारांस्तनूकरोति । एवं क्रमेण चरमसम्प्रज्ञातेऽखिलसंस्कारदाहो भवति । ततः प्रारब्धमपि कर्म न स्वविपाकसमाप्ती समर्थम्, 'भोगसंस्कारसहकार्यभावाद् 'तं' विद्याकर्मणी समन्वारभेते



पूर्वाज्ञा च' (वृ० ४.४.२) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायैर्जन्मादिविपाके पूर्वप्रज्ञाशब्दोक्तस्य प्राग्भवीयभोगसंस्कारस्य विद्याकर्मसहकारित्वसिद्धेः । ततश्चरित्ताधिकारं चित्तं प्रारब्धकर्मणा निरोधसंस्कारैश्च सह स्वकारणेऽत्यन्तं लीयते । या चेयं चित्तस्य महानिद्रा, इयमेव पुरुषस्य कैवल्यमात्यन्तिको दुःखात्मकाखिलदृश्यवियोगः, चित्तद्वारेव पुरुषस्य दृश्यरूपद्वितीयसम्बन्धादिति । तथा च स्मर्यते—

“मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः ।” इति । तत्त्वज्ञानमात्रान्मोक्षे तु प्रारब्धसमाप्त्यनन्तरं तत्त्वज्ञानसंस्कारोऽपि चित्तेन सहैव नश्यतीति विशेषः । इदमत्रावधेयम् । ज्ञानं योगश्चोभयमपि व्यापारभेदात्स्वातन्त्र्येण मोक्षकारणमत्र शास्त्रे विवक्षितम् । गीतादिषु चोक्तम्—

“यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥”

(गी० ५।५)

इत्यादिभिः । साङ्ख्यं विवेकसाक्षात्कारः । योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः । अतः केवलज्ञानेन मोक्षे जनयितव्येऽभिमाननिवर्तकात्मसाक्षात्कारपर्यन्त एव सम्प्रज्ञातोऽपेक्ष्यते न तु वृत्त्यन्तरवासनाक्षयाद्यथ पुनः सम्प्रज्ञातपरम्पराऽपि, प्रारब्धसमाप्तौ सत्यां ज्ञानवासनावत्<sup>१</sup> इतरवासनानामपि चित्तेन सहैव विनाशादिति दिक् ।

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसङ्ग्रहे<sup>२</sup> योगस्वरूपस्य  
तत्प्रयोजनस्य च निरूपणं प्रथमोऽङ्कः ।

१. सम्प्रज्ञातवासनावत्—पा० २ पु० ।

२. योगसारे—पा० २ ३ पु० ।

## अथ द्वितीयोऽंशः

योगस्य स्वरूपं निरूपितम् । इदानीं योगस्य साधनानि वक्ष्यामः ।

तत्र मन्दमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधा योगाधिकारिणो भवन्त्यारुरुक्षुयुञ्जान-  
योगारूढरूपाः । तेषां त्रिविधानि साधनानि सूत्रभाष्याभ्यामुक्तानि । तेषु मन्दमध्य-  
मयोः साधनान्यग्रे वक्ष्यामः सौत्रक्रमात् । उत्तमाधिकारिणस्तु सौत्रक्रमेणैवादावुच्यन्ते ।  
उत्तमाधिकारिणस्त एव ये पूर्वभवानुष्ठितवाहिरङ्गसाधनतया तन्नैरपेक्ष्येणैव योगा-  
रूढाः यथा जडभरतादयः । तेषां योगनिष्पत्तावभ्यासवैराग्य एव मुख्यसाधनम् ।  
न तु वक्ष्यमाणः क्रियायोगो वक्ष्यमाणानि योगबहिरङ्गाणि वाऽऽवश्यकानि,  
'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (यो० १।१२) इति सूत्रात् सोपकरणे अभ्यास-  
वैराग्ये व्याख्याय "उपदिष्टः" समाहितचित्तस्य योगः, कथं व्युत्थितचित्तोऽपि  
योगयुक्तः स्यादित्येतदर्थमिदमारभ्यते" इत्येव भाष्यकृता क्रियायोगादिरूपसाधन-  
सूत्राणामवतारणाच्च । तथा,

"आरुरुक्षुयतीनां च कर्मजाने उवाहते ।

आरूढयोगवृक्षाणां ज्ञानत्यागो परी मतो ॥"

इति गारुडाच्च । जडभरतादीनां तथैवाचाराच्च । त्यागोऽत्र प्रकृतत्वाद्यो-  
गान्तरायस्य कर्मणः । तदुक्तं मोक्षधर्मे—

"कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च<sup>२</sup> विमुच्यते ।

तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥"

इति । अनुगीतायां च—

"अप्रेतघ्नतर्कमा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः ।

ब्रह्मभूतश्चरैल्लोके ब्रह्मचारी कथ्यते ॥

ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्म विष्टरः ।

आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः ॥" इति ।

१. उद्दिष्टः— पा० २ । ३ । पु० ।

२. तु०—पा० २ । ३ पु० ।



गारुडे च—

“आसनस्थानविधयो न योगस्य प्रसाधकाः ।  
विलम्बजननाः सर्वे विस्तराः परिकीर्तिताः ।  
शिशुपालः सिद्धिमाप स्मरणाभ्यासगौरवात् ॥”

इति ।

अत्र बाह्यकर्मणामेव योगान्तरायत्वात्<sup>१</sup> त्यागो विवक्षितो न त्वान्तरस्य ।

“एतानेके महायज्ञान्योगशास्त्रविदो जनाः ।  
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥”

इति २ मन्वादिष्वनीहमानस्यापि योगिनोऽन्तर्यागविधानात्, आवश्यक-  
भिक्षाटनस्नानादावन्तर्यागस्याविक्षेपकत्वेन फलेच्छाभिमानशून्यत्वेन च योगिनामबन्ध-  
कत्वाच्चेति दिक् ।

योगस्योत्तमाधिकारी च योगारूढो गीतायां लक्षितः—

“यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।  
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥” (गी० ६।४)

इति । योगारूढस्य च पारमहंसेन योगाभ्यासो राजमार्गः, ‘एतमेव  
प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति’ (बृ० ४।४), ‘ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तिपणा-  
याश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति’ (बृ० ३।५), ‘तस्मादेवं-  
विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्’ (बृ० ४।४)  
इत्यादि श्रुतिस्मृत्योस्तद्दर्शनादिति ।

तत्राभ्यासश्चित्तस्य स्थितौ यत्नः । स्थितिश्च योगचरमाङ्गसमाधिनिश्चल-  
काग्रताधारारूपः,

“श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।  
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥”  
(गी० २।५२)

इति गीतादिभ्यः । तस्यां स्थितौ यत्नः तदर्थः प्रयासो ध्येयाद्वहिर्गच्छत-  
श्चित्तस्य पुनः पुनरानयनम् । तदुक्तं गीतायाम्—

“यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।  
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥”

(गी०, ६।२६) इति ।

१. योगान्तरायतया—पा० १ । २ पु० ।

२. मन्त्रा—पा० पु० ।



वैराग्यं च अलंबुद्धिः, न तु रागाभावमात्रम्, विषयासान्निध्यादिना रागाभावे विरक्तत्वापत्तेः । तच्च वैराग्यं द्विविधं परमपरं च ।

तत्रार्जनरक्षणक्षयहिंसाद्यनन्तदोषदर्शननिमित्तकमैहिकामुष्मिकविषयेषु त्रैतुष्यमपरं वैराग्यम् । तदपि चतुर्विधं यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा वशीकारसंज्ञा चेति । तत्र वैराग्यसाधनस्य दोषदर्शनस्याभ्यासो यतमानसंज्ञानाम्नी वितुष्या वैराग्यस्य प्रथमभूमिका । ततो जितान्येतानीन्द्रियाणि<sup>१</sup> तानि च जेतव्यानीति व्यतिरेकावधारणावस्था व्यतिरेकसंज्ञा । ततश्च बाह्येन्द्रियविषयेषु रूपादिषु रागादिक्षये सति, एकस्मिन्नेव मनसि मानावमानादिविषयकरागद्वेषादिनिरसनमेकेन्द्रियसंज्ञा । ततश्च विषयस्य मानावमानादेश्च सान्निध्यकालेऽपि सर्वेन्द्रियाणां चित्तस्य चाक्षोभो वशीकारसंज्ञेति । सर्वत्र संज्ञाशब्दोऽभिव्यक्त्यर्थः । तेन स्फुटता लभ्यते । एतेषु चतुर्विधवैराग्येषु<sup>२</sup> वशीकारसंज्ञैव योगारूढस्यानुष्ठेया, पूर्वस्य वैराग्यत्रयस्य युञ्जानां वस्थायामेव सिद्धत्वादिति ।

अपरं वैराग्यमुक्तम् । परं वैराग्यमुच्यते । आत्मानात्मविवेकसाक्षात्कारादनात्मत्वदृष्ट्या, ज्ञानफलस्य वाऽविद्यानिवृत्तेः सिद्ध्या, तत्त्वज्ञानपर्यन्तेषु सर्वदृश्येषु पूर्वोत्पन्नदोषदर्शनमेव दोषान्तरदर्शननिरपेक्षेणालम्बुद्धिः परं वैराग्यम् । एतदनन्तरमेव मोक्षस्यावश्यकतयाऽस्य परत्वमिति ।

अभ्यासवैराग्ये व्याख्याते । एतयोश्च मध्ये वैराग्येण विषयवृत्तिः कुण्ठीक्रियते, ध्येयगोचराभ्यासेन यद्व्ययकारवृत्तिप्रवाहो बलवान् दृढः क्रियत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोध इति ।

इदानीमभ्यासस्यान्तरङ्गं साधनं परिकर्मादिकमुच्यते । परिकर्मशब्देन च स्थितिहेतुश्चित्तसंस्कार उच्यते, 'परिकर्माङ्गसंस्कारः' इति 'परिकर्म प्रसाधनम्' इति चानुशासनात् ।

तत्र चित्तप्रसाद एकं परिकर्म । प्रसादश्च विषयकालुष्यराहित्यम् । प्रसादे च हेतवः—सुखितेषु मैत्री, दुःखितेषु करुणा, पुण्यशीलेषु हर्षः, पापशीलेषूपेक्षा । इत्येवमादयो रागद्वेषनिवर्तनोपायाः । तदुक्तं गीतायाम्—

“रागद्वेषवियुक्तैस्तु<sup>३</sup> विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥”

(गी० २।६४, ६५)

इति । प्राणायामश्च चित्तप्रसादस्य द्वितीय उपाय इति ।

१. जितानीन्द्रियाणि—पा०, २ । ३ पु० ।

२. वैराग्यमध्ये—पा० २।३ पु० ।

३. विमुक्तैस्तु—पा० २ पु० ।



परिकर्मान्तरं<sup>१</sup> च विषयवती प्रवृत्तिः । विषया गन्धादयस्तन्मात्ररूपाः । अल्पेनाभ्यासयोगेन तत्साक्षात्कारो विषयवती प्रवृत्तिरुच्यते । तत्र नासाग्रे चित्तधारण-  
याऽल्पेनैव कालेन जायते या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः । एवं जिह्वाग्रे रस-  
संवित् । तालुनि रूपसंवित् । जिह्वाया मध्ये स्पर्शसंवित् । जिह्वामूले शब्दसंवित् ।  
एतत्सर्वं शास्त्रप्रामाण्यादवधारणीयम् । एतासां च प्रवृत्तीनां विवेकपर्यन्तयोगभूमिषु  
श्रद्धातिशयद्वारा चित्तस्थैर्यहेतुत्वम् । स्थैर्यसंस्कारद्वारा चैकस्य<sup>२</sup> हि शास्त्रीयाथस्य  
साक्षात्कारे सति सर्वत्रैव शास्त्रार्थे श्रद्धावृद्ध्या स्थैर्यसंस्कारेण च चित्तस्थैर्यं  
युक्तमिति ।

तृतीयं परिकर्म विशोका ज्योतिष्मती । विगतः शोको यस्यामिति विशोका ।  
यतश्च विशोका, अतो ज्योतिष्मतीनाम्नी प्रवृत्तिश्चित्तस्थैर्यं हेतुर्भवति । ज्योतिष्मती  
च द्विविधा प्रवृत्तिः—बुद्धिसाक्षात्कारो विविक्तपुरुषसाक्षात्कारश्च । तयोश्च प्रकाश-  
बाहुल्यात्तद्विषयकप्रवृत्त्योज्योतिष्मतीत्वम् । नन्वात्मसाक्षात्कारानन्तरं चित्तस्थैर्यस्य  
किं प्रयोजनम्, अविद्यानिवृत्त्या कृतकृत्यत्वादिति चेन्न । जातेऽप्यात्मसाक्षात्कारेऽखिल-  
संस्कारदाहकासम्प्रज्ञातार्थिनः परवैराग्यार्थे सम्प्रज्ञातपरम्पराया अपेक्षितत्वात्,  
जीवात्मसाक्षात्कारोत्तरमपि परमात्मसाक्षात्कारार्थिनः परमात्मयोगापेक्षणाच्चेति ।

चतुर्थं तु परिकर्म विरक्तचित्तचिन्तनम् । यदा हि विरक्ते नारदादिविक्ते  
चित्तं समाधीयते तदा तद्वदेव ध्यातृनिर्गतमपि विरक्तं स्थिरस्वभावं भवति; यथा  
कामुकचिन्तया चित्तं कामुकं भवतीति ।

पञ्चमं परिकर्म स्वप्ननिद्रान्यतराज्ञानचिन्तनम् । यदा हि जाग्रज्ज्ञाने  
स्वप्नज्ञानदुष्टिः क्रियते स्वरूपावरकत्वसाम्याद्भङ्गुरविषयकत्वसाम्याच्च, तदा तत्र  
विरक्तं सच्चित्तं स्थिरं भवति । एतदर्थमेव श्रुतिस्मृत्योः स्वप्नार्थेन प्रपञ्चो रूप्यते  
'दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि' इत्यादिभिः । तथा यदा जाग्रत्पुरुषेषु सुषुप्तिदुष्टिः क्रियते  
स्वरूपावरणसाम्यात्, निद्रादोषेणान्तराऽन्तरा स्वप्नदर्शनवदन्तराऽन्तरैव जगद्दर्शना-  
च्च, तदा तेषां व्यवहारेषु विरक्तं सच्चित्तं स्थिरं भवति । तथा च स्मर्यते—

“यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वमात्मनि पश्यति ।

आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थिते ॥

मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं परं स्मरेत् ॥”

इत्यादिकमिति ।

षष्ठं परिकर्म यथाभिमतध्यानं स्वाभिलषितहरिहरमूर्त्यादौ ध्यानम् ।  
चित्तस्य रूपादिरागात्तत्र स्थितस्यान्यत्रापि विवेकपर्यन्ते स्थितियाग्यता भवतीति ।

१. परिकर्मोत्तरं—पा० २ पु० ।

२. चैकैकस्य—पा० २।३ पु० ।



एतानि परिकर्माण्युक्तानि । एतेषु चिन्तारूपाणां परिकर्मणामनुष्ठाने इच्छा-  
विकल्प इति ।

तदेवं योगद्वयसाधारणं साधनमभ्यासवैराग्याख्यमुक्तम् अभ्यासस्य च साधनं  
परिकर्मोक्तम् ।

तत्रायमवान्तरविभागो ग्रहीतृग्रहणग्राह्यरूपपङ्क्तिशतितत्त्वाभ्यासो वशीकारा-  
ख्यमपरं वैराग्यं च सम्प्रज्ञातयोगसाधनम् । तत्र च वैराग्यं साक्षादेव वृत्तिनिरोध-  
कारणम् । अभ्यासस्तु समाधिरूपाङ्गद्वारा । असम्प्रज्ञाते तु परवैराग्यमेव साक्षात्कार-  
णम् । वैराग्यरूपस्यैव ज्ञानस्याभ्यासस्तु वैराग्यनिष्पत्तिद्वारा कारणम् । परवैराग्यं  
च निष्पन्नतया विवेकख्यातावपि दुःखात्मिकायामलम्बुद्धिरित्युक्तम् । सालम्बनस्त्व-  
भ्यासो विवेकसाक्षात्कारद्वारैवासम्प्रज्ञातकारणं न साक्षादिति दिक् ।

इत्युक्तमाधिकारिणो योगसाधननिरूपणम् ।

(अथ मध्यमाधिकारिणो युञ्जानस्य वानप्रस्थादेः प्रकृष्टक्रियायोगरूपं  
योगसाधनं निरूप्यते । तस्य च क्रियायोगो मुख्यतः साधनम् । अभ्यासवैराग्यादिकं  
तु यथाशक्तिततोऽनुष्ठेयम् । प्रकृष्टक्रियायोगश्च तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि ।  
तत्र तपःशास्त्रोक्तव्रतेन शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनम् ।<sup>१</sup> स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणा-  
मध्ययनं प्रणवादिजपो वा । ईश्वरप्रणिधानं त्वत्र परमगुरो सर्वकर्मापणं तत्फल-  
संन्यासो वा, भाष्यकारैस्तथा व्याख्यातत्वादिति । अप्रणवशब्दार्थश्च स्मृतिपूर्वकः ।  
यथा—

“ज्ञानतोऽज्ञानतो वाऽपि यत्किञ्चित्कुरुते नरः ।

तत्सर्वं भगवानेव कुरुते योगमायया ॥

नाहं कर्ता सर्वमेतद् ब्रह्मैव<sup>२</sup> कुरुते तथा ।

एतद्ब्रह्मापणं प्रोक्तमपिभिरतत्त्वदर्शिभिः ॥”

इत्यादिना । कर्मफलार्पणं च कर्मफलानां परमेश्वरो भोक्तेति चिन्तनम् ।  
‘ऋतं पिबन्ती’ इत्यादिश्रुतिभिः परमेश्वरस्यापि भोगसिद्धेः, ‘अनश्नन्नन्यो अभिचाक-  
शीति’ (वृ० ३) इति श्रुत्या चाभिमानपूर्वकस्य मुख्यभोगस्यैव परमेश्वरे प्रतिषेधात् ।  
यदेव जीनान्कर्मफलानि भोजयन्परमेश्वरः प्रीणाति, तदेव परमेश्वरस्य कर्मफल-  
भोगः । यथार्थिभ्यो धनान् प्रयच्छन्दाता तद्धनभोक्ता तद्वत् । न तु साक्षादेव कर्मफलं  
स्वर्गनरकादिकमीश्वरो नुङ्गते, श्रुतिस्मृतिविराधात् । यद्यपीश्वरस्य नित्यानन्दभोगो

१. यज्ञदानादीनां तु तत्रैवान्तर्भावः इत्यधिकम्—२ पु० ।

२. हस्तैव—पा० २ पु० ।



नित्य एव, तथाऽपि जीवानां कर्मफलप्रदानेनाभिव्यक्ततया ह्यैश्वर्यानुगतानन्दभोगस्यो-  
त्पत्तिरूपवारिकी सिमृक्षोत्पत्तिवदिति ।

क्रियायां च योगशब्दो योगसाधनत्वाद्भक्तिज्ञानयोरिव गौरवः ।

तस्य च क्रियायोगस्य योगवत्क्लेशतनूकरणमपि फलं भवति, 'समाधिभाव-  
नार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च' (यो० २।२) इति सूत्रात् । तत्र च समाधिशब्दोऽङ्गाङ्गि-  
नोरभेदेन योगद्वयवाची । तत्र योगद्वयं प्रागेव व्याख्यातम् ।

क्लेशतनूकरणं तु सफलं व्याख्यायते । तत्र दुःखाख्यक्लेशनिदानत्वात्क्लेशाः  
पञ्च—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा इति । अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि-  
सुखात्मख्यातिरविद्या आत्मानात्मनोर्धर्मतः स्वतश्चात्यन्तमभेदभ्रमोऽस्मिता । अविद्या  
तु भेदाभेदं सहत इति विशेषः । रागद्वेषौ च प्रसिद्धावेव । अभिनिवेशस्तु मरणादि-  
भयम् । एतेषामुत्तरोत्तरेषु पूर्वं पूर्वं कारणम् । अतोऽविद्या सर्वक्लेशानां मूलत्वात्क्षेत्र-  
मुच्यते । अविद्यासत्त्व एवैते भवन्ति; अविद्यानाशाच्चैतेषां नाश इति ।

एते च क्लेशा व्याध्यादिवच्चित्तविक्षेपकत्वाद्योगस्यापि विरोधिनः । एतेषां  
तनुत्वं च विवेकख्यातिप्रतिबन्धाक्षमता । तच्च क्रियायोगस्य दृष्टादृष्टद्वारा फलं  
भवति क्रियायोगेन हि चित्तशुद्धिः क्रियते । ततश्चाधर्माख्यकारणतानवादविद्यादेरपि  
तनुता भवति । तथाऽभिमानरागद्वेषादिप्राबल्ये क्रियायोगो न सम्भवति । सम्भवे  
वाऽङ्गविकलो भवति । अतः क्रियायोगः स्वनिष्पत्तये क्लेशतानवमपि सम्पादयतीति ।  
एवं योगोऽपि क्रियायोगस्य दृष्टादृष्टोभयद्वारा फलं बोध्यम् । सत्त्वशुद्धिरदृष्टं द्वारम्,  
दृष्टं तु द्वारं चित्तस्य कर्मद्वारा नियमनादिकमिति ।

इदानीं क्लेशतानवस्य मोक्षपर्यन्तं फलं सूत्रगणोक्तं संकल्प्य कथ्यते । क्रिया-  
योगेन क्लेशतानवे सति, अन्तराऽन्तरा क्लेशैरप्रतिबद्धा विवेकख्यातिप्रवाहः साक्षा-  
त्कारपर्यवसायी भवति । ततश्चाविद्यादिक्लेशाः प्रसंख्यानाख्येन विवेकसाक्षात्कारे-  
णाग्निना दग्धबीजकल्पाः प्ररोहसमर्था न भवन्ति । इयं जीवन्मुक्तावस्था । ततश्च  
प्रारब्धसमाप्ती चित्ते प्रलीयमाने ते दग्धबीजकल्पा अप्यनागतावस्थाः सूक्ष्मक्लेशा  
अत्यन्तं प्रतीयन्ते । तन्निवृत्तौ पुनर्जन्मकारणाभावात्पुरुषः पुनरिदं दुःखं न भुङ्क्त इति  
परममुक्तिरिति ।

ननु अनागतावस्थानामपि क्लेशानां ज्ञाननाश्वत्वमेव युक्तम्, किमिति  
कार्याक्षमत्तारूपदाहः कल्प्यत इति चेत् ।

उच्यते । कार्याणामनागतावस्थैव कारणस्य शक्तिरुच्यते । तां च विहाय  
कारणं न तिष्ठति, अग्न्यादौ दाहादिशक्त्यैवद्वयभावित्वात् । अतः क्लेशकर्मसंस्कारा-



दीनामनागतावस्थानां बीजशक्तिदाह एव<sup>१</sup> ज्ञानादिभिः क्रियते, न त्वतीतावस्थानम् । तासां तु<sup>२</sup> नाशश्चित्तनाशदेव भवति, धर्मनाशस्य धर्मनाशकत्वादिति ।

अथ कथमविद्यादिक्लेशाद्वन्धः कथं वा तन्निवृत्त्या मोक्ष इति तयोः प्रकारः कथ्यते । अविद्यादिक्लेशेभ्य एव धर्माधर्मौ जायेते

“यस्य नाहुंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

हत्वाऽपि स इमोल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥”

(गी० १८।१७)

इत्यादिस्मृतेः । धर्माधर्माभ्यां च जन्मायुर्भोगरूपा विपाका जायन्ते । तेभ्यश्च सुखदुःखे । ततश्च पुरुषस्य तद्भोगरूपो बन्ध इति । विपाकमध्ये च भोगः शब्दाद्याकारा वृत्तिरिति भेदः ।

ननु क्लेशानां दुःखाख्यहेयहेतुत्ववत्स्वर्गादिमुखहेतुत्वमपि धर्मादिद्वाराऽस्ति; तत्कथं क्लेशा उन्मूलनीया इति ।

उच्यते । स्वर्गादिमुखमपि दुःखप्रचुरत्वादुःखानुबन्धित्वाच्च दुःखमेव विवेकिना मन्तव्यम् । तथा च सांख्यसूत्राण्यपि—‘यथा दुःखात्क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः,’ ‘कुत्रापि कोऽपि सुखीति,’ ‘तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः’ (सां० ६।६, ७, ८) इति । सोऽयमविद्यातो बन्धप्रकारः कीर्तयितुम्—

“रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिबन्धनाः ।

कार्यो ह्यस्य भवेद्दोषः पुण्यापुण्यमिति श्रुतिः ।

तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः ॥” इति ।

क्लेशेभ्यो बन्धप्रकारः उक्तः ।

क्लेशनिवृत्तितो मोक्षप्रकार उच्यते । आत्मानात्मविवेकसाक्षात्कारादविद्यानिवृत्त्या तन्मूलकानां क्लेशान्तराणामपि निवृत्तिः । ततश्च कारणाभावाद्धर्माधर्मानुत्पत्तिः । अनारब्धफलकानां चोत्पन्नकर्मणां फलानुत्पादः क्लेशाख्यसहका र्युच्छेदात् । आरब्धफलकर्मणां च भोगेनैव नाशः । ततः प्रारब्धसमाप्त्या देहपाते कारणाभावान्न पुनर्जन्म तदेव च दुःखनिवृत्तिरूपो मोक्ष इति ।

तदेवं चिकित्साशास्त्रवदेव चतुर्व्यूहप्रतिपादकं सांख्ययोगादि मोक्षशास्त्रम् । यथा हि रोगो रोगनिदानमारोग्यं भोग्यमिति चत्वारो व्यूहाश्चिकित्साशास्त्रस्य प्रतिपाद्या भवन्ति, एवमत्रापि हेयं हेयहेतुर्हानं हानोपाय इति चत्वारो व्यूहाः प्रतिपाद्याः । तत्र हेयं दुःखम् । हेयहेतुरविद्या । हानं दुःखात्यन्तनिवृत्तिः । हानोपायो विवेकसाक्षात्कार इति । उपकरणानां ग्रहणाय सर्वत्र व्यूहपदमावश्यकम् ।

१. दाहकत्वमेव—पा० २।३ पु० ।

२. न त्वतीतावस्था सा तु—पा० २ । ३ पु० ।



ननु पुरुषस्य नित्यनिर्दुःखत्वात्कथं<sup>१</sup> दुःखहानिः पुरुषार्थ इति चेन्न । भोग्यत्वरूपस्वसम्बन्धेनैव दुःखहानस्य सांख्यादिमते पुरुषार्थत्वात् । यद्यपि भोगः साक्षात्काररूपतया स्वरूपतो नित्य एव, तथाऽपि घटाकाशवद् दुःखभोगस्यानित्यतया तन्निवृत्तिः पुरुषार्थः स्यादेव, दुःखभोगस्य दुःखप्रतिबिम्बावच्छिन्नचित्स्वरूपत्वादिति ।

अत्राविद्याया हेयहेतुतायां द्वारतया द्रष्टृदृश्यसंयोगरूपं जन्म व्याख्याय सूत्रभाष्याभ्यामनेनैव प्रसङ्गेन द्रष्टृदृश्ययोः पुं प्रकृत्योः स्वरूपं प्रपञ्चितम् । मयाऽपि वार्तिके सांख्यभाष्ये च प्रपञ्चितम् । सांख्यसाराख्ये सांख्यप्रकरणे त्वस्माभिविस्तरतः प्रकृतिपुरुषो विवेचितो । अतो विस्तरभयान्नेह प्रकरणे प्रस्तूयेत ।

इति मध्यमाधिकारिणां योगसाधननिरूपणं तत्प्रसङ्गेन क्रियायोगस्य क्लेशतानवद्वारा मोक्षहेतुताया निरूपणं च ।

अथ मन्दाधिकारिणो योगभाररुक्षोर्गृहस्थादेर्योगसाधनान्युच्यन्ते । तानि च यथोक्तस्य ज्ञानस्यापि साधनानीत्याशयेन सूत्रभाष्याभ्यां विवेककृत्यातिसाधनविधयैव निर्दिष्टानि । तानि च यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इति । एतान्यष्टौ योगाङ्गानि भवन्ति । मन्दाधिकारिभिर्धारणादिरूपोऽभ्यासो यमनियमादिरूपः समग्रक्रियायोगः च यथाक्रममनुष्ठेय इत्याशयेन पिण्डाकृत्य सर्वमेव मन्दाधिकारिभ्य उपदिश्यते । तत्रादौ यमनियमाद्यनुष्ठानं केवल कर्मयोग उच्यते । उत्तममध्यमयोश्च केवलज्ञानसमुच्चितकर्मणी प्राग्वोक्ते । तत्र च ज्ञानकर्मणोः प्रत्येकसमुच्चयानुष्ठाने प्रमाणं विष्णुपुराणम् । यथा —

“सनकसनन्दनादयो<sup>२</sup> ब्रह्माभावनया युता ।

कर्मभावनयाऽन्ये च द्वाद्याः स्थावराश्चराः ।

हिरण्यगर्भादिषु च कर्मब्रह्माभयात्मिका ॥” इति ।

तत्र यमनियमो सूत्रभाष्याभ्यां प्रदर्शितो, ईश्वरगोपादानमैरेवात्र प्रदर्श्यते ।

यथा —

“अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहो ।

यमाः संक्षेपतः प्राक्ताश्चित्तशुद्धिप्रदानृणाम् ॥

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।

अक्लेशजननं प्रोक्ता त्वाहिंसा परमपिभिः ॥

१. निर्दुःखत्वात्—पा० २ पु० । नित्यादुःखत्वात्—पा० १ पु० ।

२. ज्ञानसमुच्चितज्ञानकर्मणी—पा० १ पु० । केवलज्ञानं ज्ञानसमुच्चितकर्मणी—पा० १ पु० ।

३. सनन्दनादयो ब्रह्मान्—पा० २ पु० ।



अहिंसायाः परो धर्मो नास्त्यहिंसापरं सुखम् ।  
 विधिना या भवेद्विहा सा त्वहिंसैव कीर्तिता ॥  
 सत्येन सर्वमाप्नोति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ।  
 यथार्थकथमाचारः सत्यं प्रोक्तं द्विजातिभिः ॥  
 परद्रव्यापहरणं चौर्याद्विहास्य बलेन वा ।  
 स्तेयं तस्यानाचरणादस्तेयं धर्मसाधनम् ॥  
 क्रमेणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।  
 सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ।  
 द्रव्याणामप्यनादानमापद्यपि यथेच्छया ।  
 अपरिग्रह इत्युक्तस्तं प्रयत्नेन पालयेत् ॥”  
 “तपः स्वाध्यायसन्तोषाः शौचमीश्वरपूजनम् ।  
 समासान्नियमाः प्रोक्ता योगसिद्धिप्रदायिनः ॥  
 उपवासपराकादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।  
 शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ॥  
 वेदान्तशतरुद्रीयप्रणवादिजप बुधाः ।  
 सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते ॥  
 स्वाध्यायस्य त्रयो भेदा वाचिकोपाशुमानसाः ।  
 उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यं प्राहुर्वैदार्थवादिनः ॥  
 यः शाब्दबोधजननः परेषां शृण्वतां स्फुटम् ।  
 स्वाध्यायो वाचिकः प्रोक्त उपांशोरथ लक्षणम् ॥  
 ओष्ठयोः स्पन्दमात्रेण परस्याशब्दबोधकः ।  
 उपांशुरेव निर्दिष्टः साहस्रो वाचिकाज्जपः ॥  
 यत्पदाश्रयसङ्गत्या परिस्पन्दविर्वाजितम् ।  
 चिन्तनं सर्वशब्दानां मानसं तं जपं विदुः ॥  
 यदृच्छालाभतो नित्यमलं पुंसो भवेदिति ।  
 या धीस्तामृषयः प्राहुः सन्तोषं सुखलक्षणम् ॥  
 बाह्यमाभ्यन्तरं शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ।  
 मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनः शुद्धिरथान्तरम् ॥  
 स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः ।  
 सुनिश्चला शिवे भक्तिरेतदीश्वरपूजनम् ॥” इति ।



अत्र यद्वैधर्हिताया ग्रहिस्तात्वमुक्तं तच्छोचाचमनाद्यपरिहार्यहिंसापरं गृह-  
स्थादिकर्तव्यहिंसापरं वा । भाष्यकारैर्यज्ञादिषु हिंसाया अपि त्यागस्तु महाव्रतत्वेन  
विहितः । भाष्यकारोक्तं चेश्वरप्रणिधानं सर्वकर्मापणरूपमीश्वरगीतोक्तपूजनादीना-<sup>१</sup>  
मुपलक्षणमिति ।

अनयोर्यमनियमयोर्मध्ये यमानां निवृत्तिमात्रतया देशकालाद्यपरिच्छिन्नत्व-  
सम्भवेन तन्निमित्तिका महाव्रतसंज्ञा सूत्रकारेणोक्ता । नियमानां तु प्रवृत्तिरूपतया  
देशकालादियन्त्रितत्वेन नास्ति महाव्रतत्वरूपोऽवान्तरविशेषः ।

इति यमनियमौ व्याख्यातौ ।

आसनं व्याख्यायते । तत्र यावद्यो जीवजातयस्तासामुपवेशनेषु संस्थान-  
विशेषाः<sup>२</sup> सर्व एवासनानि भवन्ति । तेषु मुख्यानि त्रीण्यासनानीश्वरगीतादिपूक्तानि ।  
यथा—

“आसनं स्वस्तिकं प्रोक्तं पद्ममर्धासनं तथा ।

आसनानां तु सर्वेषामेतदासनमुत्तमम् ॥

ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्राः कृत्वा पादतले उभे ।

समासीतात्मनः पद्ममेतदासनमुत्तमम् ॥

एकपादमर्धैकस्मिन्विन्यस्योरुणि सत्तमाः ।

आसीतार्धासनमिदं योगसाधनमुत्तमम् ॥

उभे कृत्वा पादतले जानूवोरन्तरेण हि ।

समासीतात्मनः प्रोक्तमासनं स्वस्तिकं परम् ॥” इति ।

आसनस्य प्रपञ्चस्त्वत्र राजयोगप्रकरणत्वान्न क्रियते । आसननाडीशुद्ध्याव-  
यस्तु हठयोगादिग्रन्थेष्ववशेषतो द्रष्टव्याः ।

आसनं व्याख्यातम् ।

प्राणायामो व्याख्यायते । रेचकः पूरकः कुम्भकश्चेति त्रिविधः प्राणायामः ।  
केवलकुम्भकश्चतुर्थः प्राणायामः । तदुक्तं नारदीये—

“रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः शून्यकस्तथा ।

एवं चतुर्विधः प्रोक्तः प्राणायामो मनीषिभिः ॥

जन्तूनां दक्षिणा नाडी पिङ्गला परिकीर्तिता ।

सूर्यदेवतका चैव पितृयोनिरिति स्मृता ॥

१. पूजादीनां—पा० ३ पु० ।

२. संस्थानविशेषेषु—पा० २ पु० ।

देवयोनिरिति ख्याता इडा नाडी तु वामगा<sup>१</sup> ।  
 तत्राद्यदैवतं चन्द्रः शृणुध्वं गदतो मम ॥  
 एतयोर्भयोर्मध्ये सुषुम्ना नाडिका स्मृता ।  
 अतिसूक्ष्मा गुह्यतमा ज्ञेया सा ब्रह्मादैवता ॥  
 वामेन रेचयेद्वायुं रेचनाद्वेचकः स्मृतः ।  
 पूरयेद्दक्षिणेनैव पूरणात्पूरकः स्मृतः ॥  
 स्वदेहे पूरितं<sup>२</sup> वायुं निगृह्य न विमुञ्चति ।  
 सम्पूर्णकुम्भवत्तिष्ठेत्कुम्भकः स हि विश्रुतः ॥  
 न गृह्णाति न त्यजति वायुमन्तर्बहिःस्थितम् ।  
 ज्ञेयं तच्छून्यकं नाम प्राणायामं यथास्थितम् ॥” इति ।

याज्ञवल्क्यादौ च,

“पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ।  
 प्राणायामस्त्रिधा ज्ञेयः कनीयोमध्यमोत्तमः ॥  
 द्वादशमात्रः कनीयान्मध्यमो मात्राचतुर्विधः ।  
 उत्तमः षट्त्रिंशन्मात्रो मात्राभेदाः स्मृतास्तज्ज्ञैः ॥”

इत्याद्युक्तम् । अत्र प्राणायामस्य पूरकादिक्रमकथनान्नारदाद्युक्तो रेचकादि-  
 क्रमो वैकल्पिक इति ।

अस्मिन्चतुर्विधप्राणायामे सूत्रकारेणार्थं विशेष उक्तः आदौ यत्सहितं त्रय-  
 मभ्यस्यते, तच्च देशकालसङ्ख्याभिरवधृतं भवति, तदा दीर्घसूक्ष्मसंज्ञकं भवति ।  
 तत्र रेचकस्य देशो नासिकाग्राद्वह्निर्द्वादशाङ्गुलादिः । स च इषीकातूलादिक्रियया<sup>३</sup>  
 निश्चेयः । पूरकस्य चामस्तकमापादतलमाभ्यन्तरो देशः । स च पिपीलिकासपर्शस्तुल्य-  
 स्पर्शेन निश्चेयः । कुम्भकस्य च रेचकपूरकयोर्बाह्याभ्यन्तरदेशौ समुच्चितावेव विषयः,  
 उभयत्रैव प्राणस्य वृत्तिनिरोधात् । स चोक्तलिङ्गद्वयानुपलब्ध्या निश्चेयः<sup>४</sup> । एवं  
 देशेनावधृतो व्याख्यातः । कालेनावधृतो यथा—‘एतावत्क्षणं रेचकः कर्तव्यः’ एता-  
 वत्क्षणं पूरकः कर्तव्यः’ ‘एतावत्क्षणं कुम्भकः कर्तव्यः’ इत्येवमङ्गीकृतकालैरवधृत  
 इति । सङ्ख्याभिरवधृतस्तु यथा मात्राणां द्वादशादिसङ्ख्यात्रयेणावधृत इति । अत्र

१. वामता — पा० १ पु० ।

२. पूरकं — पा० १ पु० ।

३. इषीका — पा० २ पु० ।

४. कुम्भकस्य च पूरकदेश एव विषयः, त्रयाणां गहानुष्ठाने पूरकानन्तरमेव  
 श्रवणात् । स चोक्तलिङ्गानुपलब्ध्या निश्चेयः पा० ३ पु० ।



देशादित्रयाणां प्राणायामपरिच्छेदकत्वे विकल्प एव न तु समुच्चयः, केवलमात्राभिरपि प्राणायामपरिच्छेदस्य बहुशः स्मरणादिति । एवमभ्यासक्रमेण यदा देशकालसङ्ख्याभिः परिच्छेदो रेचकपूरको विनैव माससंवत्सरादिस्थायी बहुदेशस्थायी<sup>१</sup> कुम्भको भवति, स केवलकुम्भकश्चतुर्थः प्राणायामः । तस्मिन्सत्याकाशगमनादिसिद्धयो जायन्ते । तदुक्तं वसिष्ठसंहितायाम्—

“रेचकं पूरकं त्यक्त्वा मुखं यद्वायुधारणम् ।  
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥  
सहितं केवलं वाऽपि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ।  
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥  
केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ।  
न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥

इत्यादिभिरिति । प्राणायामे च मात्रा मार्कण्डेयपुराणादिपूक्ता—

“निमेषोन्मेषणो मात्रा तालो लघ्वक्षरं तथा ।  
प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृता द्वादशमात्रिका<sup>२</sup> ॥

इत्यादिभिः । मात्रा प्रमाणम् । द्वादशमात्रिका द्वादशगुणिता । इदं च द्वादशमात्रिकत्वं त्रिष्वेव सामान्यवचनात् । वसिष्ठसंहितादौ तु पूरकं षोडशमात्राभिः, कुम्भकं चतुःषष्टिमात्राभिः रेचकं तु द्वात्रिंशन्मात्राभिरित्युक्तम् । अतो मुख्यकल्पानु-  
कल्परूपेणात्र व्यवस्थेति ।

अन्यश्च प्राणायामे विशेषो नारदादिपूक्तः

“अगर्भश्च सगर्भश्च द्वितीयस्तु तयोर्वरः ।  
जपध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वितः ॥”

इत्यादिभिः । तत्र जपमन्त्र ईश्वरगीतायामुक्तः—

“सव्याहृति सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।  
त्रिजंषेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥” इति ।

योगियाज्ञवल्क्ये तु—

“मात्राप्रमाणयोगेन प्राणापाननिरोधनात् ।  
ओङ्कारेण तु कर्तव्यः प्राणायामो यथोदितः ॥” इति ।

केवलप्रणवजपोऽयं परमहंसानाम् । ध्यानं च पूरकादिक्रमेण नाभिहृदयललाटेषु ब्रह्मविष्णुशिवरूपाणां स्मृतिपूक्तम् । परमहंसानां तु केवलमेव ब्रह्म ध्येयमुक्तम्

१. व्यापी—पा० ३ पु० ।

२. स्मृतिद्वादशमात्रिका—पा० १ पु० ।



‘प्रणवेन परब्रह्म’ ध्यायीति नियतो यतिः’ इत्यादिस्मृतिभिरिति दिक् ।

इति प्राणायाम उक्तः ।

प्रत्याहार उच्यते । नारदीये—

“विषयेषु प्रसक्तानि इन्द्रियाणि मुनीश्वराः ।

समाहृत्य निगृह्णाति<sup>२</sup> प्रत्याहारस्तु स स्मृतः ॥

अनिजित्येन्द्रियग्रामं यस्तु ध्यानपरो भवेत् ।

मूढात्मानं च तं विद्याद्व्यानं चास्य न सिध्यति ॥”

इति । इन्द्रियाणां निग्रहश्च वशीकरणम्, स्वेच्छानुविधायी<sup>३</sup>करणमिति यावत् । प्रत्याहार उक्तः ।

यमादीनि चैतानि प्रत्याहारान्तानि योगाङ्गानि देहप्राणेन्द्रियाणां निग्रह-  
रूपाणि । इतः परं चित्तनिग्रहरूपं धारणाद्यङ्गत्रयमभ्यहितं वक्तव्यम् ।

तत्र धारणोच्यते । ‘देशबन्धश्चित्तस्य धारणा’ (यो० ३.१) । यत्र देशे  
ध्येयं चित्तनीयं तत्र चित्तस्य स्थिरीकरणमिति यावत् । देशाश्चोक्ता ईश्वर-  
गीतायाम्—

“हृत्पुण्डरीके नाम्ना वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके ।

एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम् ॥” इति ।

ननु मूर्त्यादियोगे देशो घटते; सत्त्वपुरुषान्यतायोगे शुद्धब्रह्मयोगे वा कथं  
देशो घटतां ध्येयस्यापरिच्छिन्नत्वादिति चेत्, अग्नेरिन्धनवत्स्वस्वोपाधिवृत्तेरेव तदुभय  
देशत्वादिति ।

यावत्कालावस्थित्या धारणादित्रयं भवति, स काल ईश्वरगीतायामवधृतः—

“धारणा द्वादशायामा ध्यानं द्वादश धारणाः ।

ध्यानद्वादशकं यावत्समाधिरभिधीयते ॥” इति ।

द्वादश प्रायामाः प्राणायामा यावत्कालेन भवन्ति तावत्कालपरिमितं चित्तस्य  
यथोक्तैकाग्र्यं धारणेत्यर्थः । धारणोक्ता ।

ध्यानमुच्यते । तत्र देशे ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो वृत्त्यन्तराव्यवहितो ध्यानम् ।  
यथा हृत्पुण्डरीकादौ चतुर्भुजादिचिन्तनम्, बुद्धिवृत्तिं वा तद्विवेकतश्चैतन्यचिन्तनम्,  
कारणोपाधौ चेश्वरचिन्तनमिति ईश्वरगीतायामभ्येतदेवोक्तम्—

“देशावस्थितिमालम्ब्य बुद्धेर्या वृत्तिराम्बिषा

१. परं ब्रह्म—पा० २ पु० ।

२. निगृह्णाति—पा० १ पु० ।

३. अनुविधया—पा० १ पु० ।



वृत्त्यन्तरैरसंपृष्टा तद्व्यानं सूरयो विदुः ॥” इति

ध्यानसमाध्योरपि कालनियम उक्त एवेति । ध्यानमुक्तम् ।

समाधिरुच्यते । तदेव ध्यानं यदा ध्येयावेशवशाद्व्यानध्येयध्यातृभावदृष्टि-  
शून्यं सदध्येयमात्राकारं भवति, तदा समाधिरुच्यते । कालनियमश्चोक्त एव ।  
ध्यानाच्चास्यान्योऽपि विशेषोऽस्ति । अत्यन्ताभ्याहितादिविषयैरिन्द्रियसन्निकर्षे ध्यानस्य  
भङ्गो भवति न तु समाधेरिति । तथा च स्मर्यते—

“तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो

न वेद किञ्चिद्वहिरन्तरं वा ।

यथेषुकारो नृपति ब्रजन्त-

मिषी गतात्मा न ददर्श पाश्वे ॥” इति ।

अत्र समाधिलक्षणे वृत्त्यन्तरनिरोधो न विशेषणं निरोधस्याङ्गित्वाद्, किन्तु-  
पलक्षणमेवेति मन्तव्यम् । एतत्कालीनेनैव वृत्तिनिरोधेन ध्येयसाक्षात्कारो जायत  
इत्यतः समाधिः सम्प्रज्ञातयोगस्य चरमाङ्गं भवति । ननु यदि समाधिकाल एव  
वृत्त्यन्तरनिरोधरूपः सम्प्रज्ञातयोगो भवति, तदा निरोधस्यैवाङ्गित्वे किं नियामकमिति  
चेत्

उक्तमेव पुनः स्मार्यते । चित्तं स्वत एव सर्वार्थग्रहणसमर्थं विभुत्वात्प्रकाश-  
स्वभावत्वाच्च दर्पणवत् । तथाऽपि विषयान्तरावेशदोषादभीष्टार्थो भाव्यमानोऽपि न  
साक्षात्कर्तुं शक्यते । अतो विषयान्तरवृत्तिनिरोध एव प्रतिबन्धकाभावरूपतया ध्येय-  
साक्षात्कारे साक्षात्करणं भवति । समाधिरपि तु तत्राङ्गमेव, साक्षात्कारे वृत्त्यन्तर-  
निरोधद्वारैव हेतुत्वादिति ।

तदेवं धारणादित्रयं व्याख्यातम् । एतच्च त्रयमेकस्मिन्नालम्बने वर्तमानं  
संयम इत्युच्यते । तस्य च संयमस्य स्थूलादिक्रमेण विविक्तपरमात्मपर्यन्तं भूमिषु  
विनियोगः कर्तव्यः, ‘तस्य भूमिषु विनियोगः’ (यो० ३.६) इति सूत्रात्,

“स्थूले विनिर्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मे शनैनयेत् ।”

इति स्मृतेश्च । अयं तूत्सर्ग एवेति प्रागेवोक्तम् । यतो यदीश्वरप्रसादात्सद्-  
गुरुप्रसादाद्वाऽदावेव सूक्ष्मसूक्ष्मभूमिकायामवस्थितियोग्यता स्वचित्तस्य दृश्यते तदा न  
स्थूलादिपूर्वपूर्वभूमिकया मुमुक्षुभिः कालक्षेपः कर्तव्यः, उत्तरभूमिकारोह रूपस्य पूर्व-  
भूमिकाप्रयोजनस्यान्यत एव सिद्धेः । तथा च स्मर्यते—

“सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत्स्वार्थसाधकम् ।

ज्ञानानां बहुता येषा योगविघ्नकरी हि सा ॥

इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत् ।

आ स कल्पसहस्रेषु नैव ज्ञेयमवाप्नुयात् ॥” इति ।

अतोऽत्र प्रकृष्टाधिकारिणां परमात्मालम्बन एव संयमप्रकारोऽस्माभिरुदाह्रियते ।  
सत्त्वपुरुषान्यतालम्बनस्य तु संयमस्य प्रकारांस्तच्छेषतयैव वक्ष्यामः । तत्र परमात्म-  
संयमे नारदीयहरिभक्तिसुधोदयस्थप्रकारः कथ्यते । यथा—

नारद उवाच ।

“विलाप्य विस्तरं कृत्स्नं चिदेकरसबोधने ।  
राजयोगं प्रवक्ष्यामि तं शृणुध्वं द्विजोत्तमाः ॥  
वेदान्तेभ्यः सतां सङ्गात्सद्गुरोश्च स्वतस्तथा ।  
ज्ञेयोऽन्तः प्रकृतेरन्य आत्मा सम्यङ् मुमुक्षुभिः ॥  
इत्यात्मानं दृढं ज्ञात्वा सङ्गं सर्वं ततस्त्यजेत् ।  
अद्वैतसिद्धौ यततामन्यसङ्गो ह्यरिः स्फुटम् ॥  
एकान्ते स्वासनो धीरः शुचिर्दक्षः समाहितः ।  
यतेतोपनिषद्दृष्टमायाभिन्नात्मदर्शने ॥  
पराक्प्रवृत्ताक्षणं योगी प्रत्यक्प्रवाहयेत् ।  
रुद्ध्वा मार्गं तदत्यन्तं मुक्तास्त्रौघमिवार्जुनः ॥  
स्थापयित्वा पदेऽक्षाणि स्वे स्वेऽन्तस्तु मनः शनैः ।  
निवृत्तसैन्यं राजानं वेश्मेवान्तः प्रवेशयेत् ॥  
अन्तः स्थिते<sup>१</sup> च मनसि न चलन्तीन्द्रियाण्यपि ।  
अभ्राणि स्तिमितानीव चोदकेऽन्यगतेऽनिले<sup>२</sup> ॥  
ततो<sup>३</sup> वपुरहङ्कारबुद्धिभ्योऽन्ये चिदात्मनि ।  
तासां प्रवर्तयितरि स्वात्मनि स्थापयेन्मनः ॥  
मुधा कर्तृत्वभोक्तृत्वमानिनं तमथामलम् ।  
सर्वात्मनि चिदानन्दधने विष्णौ सु योजयेत् ॥  
सलिले करकाश्मेव<sup>४</sup> दीपोऽनाविव तन्मयः ।  
जीवो मौढ्यात्पृथग्बुद्धी युक्तो ब्रह्मणि लीयते ॥  
अयं च जीवपरयोर्योगो योगाभिधो द्विजाः ।  
सर्वोपनिषदामर्षो<sup>५</sup> मुनिगोप्यः परात्परः ॥

१. अन्तर्नति च—पा० २ पु० ।

२. अखिले—पा० १. पु० ।

३. ततः पुनरहङ्कार—पा० २ पु० ।

४. करकाण्येव—पा० २ पु० ।

५. स षो—पा० २ पु० ।



एवं ब्रह्मणि युक्तात्मा सन्निरन्तरचिद्रसः<sup>१</sup> ।  
 आसीताभ्यन्तरं बाह्यं विलाप्य जगदात्मनि ।।  
 क्रमाद्विलापयन्नेव कठिनांशोपमं जगत् ।  
 विस्तरं स्वात्मविद्योगी निर्विशेषं विलापयेत् ।  
 एवं सततयुक्तात्मा क्रमाद्विष्णुमयो भवेत् ।  
 न हि सैन्धवशैलोऽपि क्षणादम्बुमयो भवेत् ॥  
 व्युत्थितोऽपि जगत्कृत्स्नं विष्णुरेवेति भावयन् ।  
 निर्ममो निरहङ्कारश्चरेच्छथिलसंसृतिः ॥  
 एवं सततमभ्यासाल्लीनबुद्धेः परात्मनि ।  
 कर्माणि बुद्धिपूर्वाणि निवर्तन्ते स्वतो द्विजाः ॥  
 पूर्वाभ्यासबलात्कार्यो न लौक्यो न च वैदिकः ।  
 अपुण्यपापः सर्वात्मा जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥  
 तद्देहपाते च पुनः सर्वगो<sup>२</sup> न स जायते ।  
 एवमद्वैतयोगेन विमुक्तिर्वो मयोदिता ॥” इति ।

एतेषां<sup>३</sup> वाक्यानां कठिनांशो व्याख्यायते । आदौ वेदान्तादिभ्यः<sup>४</sup> आत्माना-  
 त्मसामान्यं सविकारप्रकृतितो विवेकेनावधार्यमित्येवं साधनैरात्मानं बृढं ज्ञात्वा<sup>५</sup>  
 श्रवणमननाभ्यां निश्चित्य ततः सर्वसङ्गं त्यजेत्, योगेनात्मसाक्षात्काराय परमहंसा-  
 श्रमी भवेत् । अद्वैतसिद्धिवक्ष्यमाणाऽद्वितीयसाक्षात्कारः कैवल्यनिष्पत्तिर्वा । संन्यस्य  
 यत्कार्यं तदाह—एकान्त इति । उपनिषद्दृष्टं उपनिषत्सु श्रुतः । मायाभिन्नः प्रकृति-  
 विविक्तः । अथ वा मायाशब्देनात्र जीवात्मा<sup>६</sup> विविक्षितः, ततोऽपि विवेकेनात्र  
 परमात्मन एव ज्ञेयतया वक्ष्यमाणत्वात्परमात्मावरकत्वेन जीवेऽपि मायाशब्दप्रयोगो-  
 चित्याच्च । यत्नप्रकारमाह—परागित्यादिना । पराक् बहिः । प्रत्यक् अन्तरम् ।  
 तन्मार्गं बहिर्मागम् । अनेन श्लोकेन प्रत्याहार एवोक्तः । यमादयः प्राणायामान्ताश्च  
 बहिरङ्गत्वेनानावश्यकत्वाद्वा नोक्ताः । अथ वा ‘एकान्ते स्वासनो धीरः’ इत्यादि-  
 वाक्येनैव संक्षेपाद्यमाद्यङ्गचतुष्कमुक्तम् । प्रत्याहारमुक्त्वा संयमप्रकारमाह—ततो  
 वपुरित्यादिद्वाभ्याम् । अत्र प्रथमश्लोकेनान्तर्यामिणः परमात्मनो देशे जीवात्मनि

१. सद्रसः—पा० २ पु० ।
२. सर्वतो—पा० १ पु० ।
३. एषां—पा० १ पु० ।
४. वेदान्तेभ्यः—पा० १ पु० ।
५. तत्त्वं—पा० १ पु० ।
६. अभीत्यधिकः २ पु० ।



चित्तस्थापनरूपा धारणा प्राक्ता ।<sup>१</sup> मुधेत्यादिश्लोकेन च ध्यानसमाधी संक्षेपेणोक्तौ । तस्यार्थः । तं जीवात्मानं मुधा वृथा कर्तृत्वभोक्तृत्वादिषु स्वातन्त्र्याभिमानम् अमञ्ज-मुपाधिविविक्तत्वाच्छुद्धं सर्वेषां यथोक्तानां देहादिजीवान्तानामात्मनि परमात्मनि स्वोपाधिविविक्ते सु योजयेद् विलापयेत् । प्रलीनाखिलजीवकं परमात्मानं चिन्तयेदिति ।

ज्ञेयत्वोपपादनाय प्रलयस्यैव तात्त्विकत्वं दृष्टान्तेनाह—सलिल इति । जीवो लोकेर्मोहादेव परमात्मनः पृथग्बुद्धी विभवततया<sup>२</sup> ज्ञायते, विभागस्य नैमित्तिकत्वेना-ल्पकालावस्थायित्वादिना च विकारवद्वाचारम्भणमात्रत्वात् । तत्त्वतस्तु जीवो युक्तो योगाख्यसाधनवान् सलिलादौ करकादिरिव<sup>३</sup> ब्रह्मणि लीयते यतस्तन्मयः, तत्कार्यं इत्यर्थः । शेषं स्पष्टप्रायमिति दिक् ।

तदेवमष्टौ योगाङ्गान्युक्तानि । तत्राङ्गतायामयं विशेषः सूत्रकारेणोक्तः । प्रत्याहारपर्यन्तपञ्चाङ्गापेक्षया धारणादित्रयं सम्प्रज्ञातयोगस्यान्तरङ्गं भवति, पञ्चाङ्गानां प्रायशो देहप्राणेन्द्रियसंस्काररूपत्वात्, धारणादित्रयस्य तु योगाश्रयचित्त-संस्कारत्वात् । किञ्च पञ्चाङ्गानामभावेऽपि<sup>४</sup> प्राग्भवीयैस्तैः कदाचिद्योगो भवति, धारणादित्रयस्य तु सहभावेनैवाङ्गतया तेन विना योगो न जायत इति । तदेवं धारणादित्रयमन्तरा<sup>५</sup> असम्प्रज्ञातस्य निरालम्बनत्वात्, जन्मान्तरीयेण धारणादि-नौत्पत्तिकज्ञानवैराग्याणां देवविशेषाणां भवप्रत्ययासम्प्रज्ञातयोगस्योक्तत्वाच्चेति दिक् ।

इति विज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसङ्ग्रहे

योगसाधननिरूपणं द्वितीयोऽंशः ।

—०—

१. धारणोक्ता—पा० २ पु० ।
२. विविक्तया—पा० २ पु० ।
३. करका इव—पा० १ पु० ।
४. पञ्चाङ्गानामैहिकानामभावेऽपि—पा० २ पु० ।
५. तदपि धारणादित्रयमसम्प्रज्ञातस्य च बहिरङ्गं भवति—पा० २ पु० ।



## अथ तृतीयोऽङ्कः

अतः परं संयमसिद्धयो वक्तव्याः । सिद्धिकामानां ज्ञानादिप्रतिबन्धकतृणो-  
पशमाय तत्तत्संयमनिष्पत्त्यवधारणाय च, तथा मुमुक्षूणां हेयत्वप्रतिपादनाय । तथा  
च सूर्यसिद्धान्ते सूत्रम् 'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' (यो० ३।५०) इति ।

अत्र विषयभेदेन अनन्तानां संयमानामनन्ताः सिद्धयः । तासु कियत्य एव  
सूत्रभाष्याभ्यामुक्ताः । अस्माभिस्तु ग्रन्थबाहुल्यभिया ताम्योऽपि समुद्धृत्य सारतरा  
एव सिद्धय उच्यते । तत्र संयमविषयसाक्षात्कारा एव संयमसिद्धितयाऽत्र कथ्यन्ते ।  
संयमानां स्वस्वविषयसाक्षात्कारहेतुतायाः सामान्यत एव लब्धत्वात् 'क्षीणवृत्तेर-  
भिजातस्येव मरणेऽग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थितदञ्जनतासमापत्तिः' (यो० १।४१) इति  
सूत्रेण, तथा 'भुवनज्ञानं सूर्यं संयमात्' (यो० ३।२६) इत्यादिसूत्रेष्वन्यविषयक-  
संयमसिद्धितयान्यज्ञानादेः कथनाच्च । किन्तु स्वविषयसाक्षात्कारपर्यन्तस्य संयमस्य  
विषयान्तरज्ञानादिरेव सिद्धितया कथ्यत इति मन्तव्यम् । (ग्रन्थविषयकसंयमस्य  
प्रतिनियतान्यपदार्थज्ञानादिकं योगजधर्मद्वारा भवति, यज्ञविशेषात्स्वर्गविशेषवदिति ।)

तत्र यस्मात्संयमादात्मसाक्षात्काररूपा सिद्धिर्भवति तदुभयमेवाम्यहितत्वादा-  
दावुच्यते । तत्र सूत्रम्—सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थ-  
त्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्' (यो० ३.३५) इति । भोगमध्ये बौद्धप्रत्ययविवेकेन  
पौरुषप्रत्यये संयमः कर्तव्य इत्याशयेन भोगोऽप्यत्र लक्ष्यते । तथा चायमर्थः । सत्त्व-  
मुपाधिः कार्यकारणसाधारणः । पुरुषस्तद्वति साक्षी जीवेश्वरसाधारणः । तयोरत्य-  
न्तासंकीर्णयोस्तमःप्रकाशवदत्यन्तविधर्मणोरपि यः परस्परं प्रतिबिम्बवशात्प्रत्यया-  
विशेषः प्रत्यययोर्विवेकाग्रहणमेकत्वभ्रमो वा शब्दाद्याकारवृत्तिरेव ज्ञानमित्येवं  
तप्तायःपिण्डवदेकतावृत्तिरूपः, स भोगो मुख्य इति विशेषः । तथा च भाष्यम्—  
'इष्टानिष्ठगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगः' इति । तयोः प्रत्यययोर्मध्ये संहत्य-  
कारित्वात्परार्थो यः शब्दाद्याकार उपाधिसत्त्वस्य प्रत्ययस्तस्माद्भेदेन स्वार्थं ज्ञानरूपे-  
पुरुषस्य प्रत्यये संयमात्तदुभयविवेकसाक्षात्कारपर्यन्तात्पुरुषज्ञानं कूटस्थविभुनित्यशुद्ध-



मुक्तत्वादिनाऽऽत्मसाक्षात्कारो<sup>१</sup> भवति । अखिलप्रपञ्चात्पुरुषस्य विवेकोऽनुभूयत इति यावत् । तत्र परार्थत्वं स्वार्थत्वं च प्रत्यययोर्विवेकहेतुविधयोपन्यस्ते । तत्र परार्थत्वं परमात्रस्य भोगापवर्गसाधनत्वम् । स्वार्थत्वं स्वभोगापवर्गसाधनत्वम् । अत्र तु भोगो विषयानुभवमात्रमिति ।

ननु पौरुषेयप्रत्ययः पुरुषस्य स्वरूपमेव; अतः कथं तस्मात्साक्षात्कार<sup>२</sup>पर्यन्तस्य संयमस्य पुरुषज्ञानं फलं स्यात् तस्य प्रागेव सिद्धत्वादिति चेन्न । घटाकाशवच्छब्दादिवृत्त्यवच्छिन्नचिदाकाशभागस्य वृत्तिविवेकेन साक्षात्कारात्; परिपूर्णत्वादिरूपैरखिलप्रपञ्चविवेकेन च तत्साक्षात्कारस्य सिद्धिरूपस्य भिन्नत्वादिति दिक् ।

तमिमं संयमं विहायात्मसाक्षात्कारस्यान्य उपायो नास्ति । अत आत्मजिज्ञासुभिरयमेव संयमः संयमान्तराण्यणिमादिसिद्धिहेतुभूतानि विहाय कर्तव्य इति साङ्ख्ययोगयो रहस्यं स्वानुभवसिद्धमुपदिष्टम् । एतस्मिन्च संयमे क्रियमाणे, अन्या अपि सिद्धयः पुरुषज्ञानस्य लिङ्गभूता आदौ जायन्ते प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवात<sup>३</sup> संज्ञकाः । तत्र दृष्टकारणं विनैव अकस्माद्व्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतसूक्ष्माद्यर्थस्फुरणसामर्थ्यं प्रतिभा, सज्जन्यं ज्ञानं प्रातिभं मनसः सिद्धिः । तथा व्यवहितादिश्रावणं<sup>४</sup> श्रावणं श्रोत्रस्य सिद्धिः । तथा व्यवहितादिस्पर्शनं वेदनं त्वगिन्द्रियस्य सिद्धिः । तथा व्यवहितादिदर्शनमादर्शश्चक्षुषः सिद्धिः । तथा व्यवहितादिरसग्रहणमास्वादो रसनायाः सिद्धिः । तथा व्यवहितादिगन्धग्रहणं वातो<sup>५</sup> घ्राणस्य सिद्धिरिति । एताः पण्डिन्द्रियस्य षट् सिद्धयः पुरुषसाक्षात्कारहेतोः प्रत्ययसमाधेरुपसर्गा अन्तरायाः । विषयभोगतः समाधिभ्रंशाद् व्युत्थितचित्तस्य बहिर्मुखस्य दृष्ट्यैव तु सिद्धयः पुरुषार्थसिद्धिरूपा उच्यन्ते, 'ते समाधायुपसर्गा<sup>६</sup> व्युत्थाने सिद्धयः' (यो० ३.३७) इति सूत्रात् । अत एता आत्मजिज्ञासुभिर्न कामनीयाः, कदाचिदकामत उपस्थिता अण्युपेक्षणीया इति ।

इत्यात्मज्ञानरूपसिद्धिहेतोः संयमस्य कथनम् ।

इतः परं वितर्कविचारानन्दास्मितानुगतसम्प्रज्ञातानां हेतवो ये गृहीतृ<sup>७</sup>ग्रहणग्राह्येषु संयमास्तेषां सिद्धयो वक्तव्याः । तत्र ग्राह्यग्रहणगृहीतृक्रमेणैवोत्सर्गतः संयमोत्पादात्प्रथमं ग्राह्यसयमस्य सिद्धिरुच्यते । ग्राह्याणि भूतानि । तानि च कार्य-

१. कूटस्थशुद्धबुद्धमुक्तत्वादिनास्य साक्षात्कारो—पा० २ । पु० ।

२. तत्साक्षात्कार—पा० २ । पु० ।

३. वार्ता—पा० १ । २ पु० ।

४. व्यवहितश्रावणं—पा० १ पु० ।

५. वार्ता—पा० २ पु० ।

६. ताः—इत्यधिकम् २ पु० ।

७. गृहीतृ—पा० २ पु० प्रामादिकः ।



कारणाभेदेन धर्मधर्म्यभेदेन च पञ्चरूपाणि भवन्ति । रूपाणि च स्थूलस्वरूपसूक्ष्मा-  
न्वयार्थवत्त्वसंज्ञानि । तत्र शब्दादयो विशेषा आकाशादयश्च भूतानां स्थूलं रूपम् ।  
आकाशत्ववायुत्वादिसामान्यपञ्चकं च भूतानां स्वरूपाख्यं रूपम् । शब्दादितन्मात्र-  
पञ्चकं तु सूक्ष्मं रूपम् । अनुगच्छतीत्यन्वयः; सत्त्वादिगुणत्रयात्मिका प्रकृतिरन्वयाख्यं  
रूपम् । गुणगतः पुरुषार्थो भोगापवर्गरूपोऽर्थवत्त्वाख्यं रूपमिति । एतद्रूपपञ्चक-  
संघातरूपेषु भूतेष्वेतैः पञ्चरूपैः संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात्तैरेव रूपभूतजयरूपा  
सिद्धिर्भवति । 'स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः' (यो० ३.४४) इति  
सूत्रात् । जयश्च वशवर्तित्वं स्वेच्छानुसारतः प्रवर्तनम् । यद्यप्यहंकारबुद्धी अपि  
भूतकरणत्वेन भूतानुगततया भूतानां रूपं भवतः, तथाऽपि यज्ञादिफलवत्संयम-  
सिद्धेर्वाचनिकतया भूतेषु बुद्धयहंकाररूपाभ्यां संयमस्य न तदुभयजयः फलमित्या-  
शयेन तदुभयरूपसंयमो भूतेषु नोक्तः । इन्द्रियेषु वक्ष्यते ।

ततश्च भूतजयादणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पद् भूतधर्मानभिधातश्चेत्येत-  
त्सिद्धिर्नयं भवति ।

तत्राणिमाद्या अष्टौ सिद्धयः स्मृतिषु परिगणिताः—

“अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः ।

प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता ।

गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति ॥” इति ।

तत्र स्वेच्छयाऽणुपरिमितशरीरो भवतीत्यणिमा । एवं महिमा । लघिमा तु  
गुह्यतरशरीरोऽपि तूलादिवल्लघुर्भवति येनाकाशादिषु सञ्चरति । इन्द्रियैः प्राप्तिस्तु  
भूमिष्ठ एव अद्भुतगुल्या चन्द्रमसं स्पृशतीत्यादिरूपा । प्राकाम्यं च श्रुतदृष्टेषु स्वर्गादिषु  
जलादिषु च गत्यप्रतिबन्धः । ईशिता च शक्तीनां भूतभौतिकानां स्वेच्छया प्रेरणम् ।  
वशिता भूतभौतिकानां शक्तिप्रतिबन्धसामर्थ्यं स्वस्य च तदवशत्वम् ।<sup>२</sup> यत्र कामाव-  
सायित्वसंज्ञा त्वष्टमी<sup>३</sup> सिद्धिः, विषस्यापि स्वेच्छयाऽमृतीकरणसामर्थ्यममृतस्यापि  
विषीकरणसामर्थ्यमित्यादिरूपा । इत्यणिमाद्यष्टसिद्धयो व्याख्याताः<sup>४</sup> ।

कायसम्पच्च रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि ।

भूतधर्मानभिधातस्तु पृथिव्यादिधर्मैः काठिन्यादिभिर्योगिशरीरस्य गत्याद्य-  
प्रतिघातः । तद्यथा—पृथिवी काठिन्येन शरीरक्रियां न प्रतिबध्नाति येन पर्वतमपि  
भित्त्वा स्थूलशरीरं गच्छति, शिलामपि वाऽनुप्रविश्य तिष्ठति । तथा आपः स्निग्धाः

१. रूपार्थवत्त्व—पा० । २ पु० ।

२. अवश्यत्वम्—पा० । २ पु० ।

३. कामावसायित्वमष्टमी—पा० । २ पु० ।

४. अष्टसिद्धिव्याख्याता—पा० । २ पु० ।



शरीरं न क्लेदयन्ति । अग्निरुष्णो न दहति । वायुर्गतिशीलो न चालयति । आकाश-  
भमावरकमप्यावृणोति<sup>१</sup> येन सिद्धानामप्यद्वयो भवति ।

इतिग्राह्यसंयमस्य सिद्धय उच्यताः ।

ग्रहणसंयमस्योच्यन्ते । गृह्यन्त एभिरिति ग्रहणान्येकादशेन्द्रियाणि । तान्यपि  
कार्यकारणभेदेन धर्मधर्म्यभेदेन च पञ्चरूपाणि भवन्ति । रूपाणि च ग्रहरूप-  
स्मितान्वयार्थवत्त्वसंज्ञानि । तत्रेन्द्रियाणां वृत्तयो ग्रहणम् । इन्द्रियाणि स्वरूपम् ।  
महङ्कारः अस्मिता । अत्रैव बुद्धेरप्यन्तर्भावः । अन्वयश्च पूर्ववद्गुणत्रयात्मिका  
प्रकृतिः । अर्थवत्त्वं तु पूर्ववत् । एतद्रूपपञ्चकसङ्घातरूपेष्विन्द्रियेषु एतैः पञ्चरूपैः  
संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तादिन्द्रियजयरूपा सिद्धिर्भवति, ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थ-  
वत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः' (यो० ३.४७) इति सूत्रात् । ततश्च मनोजयित्वं<sup>२</sup> विकरण-  
भावः प्रधानजयित्वं चेत्येतत्सिद्धिर्न भवति । तत्र कायस्यानुत्तमप्रतिलाभो मनोज-  
यित्वं<sup>३</sup> येनोपासकादिभिः स्मृतमात्राः क्षणादेव सिद्धाः पुरो दृश्यन्ते । स्थूलदेहनैरपेक्ष्ये-  
णैवेन्द्रियाणां यथेच्छं व्यवहितादिसाधारणार्थेषु वृत्तिलाभो विकरणभावः । इन्द्रियाणां  
सर्वत्र विकीर्णतेति यावत् । सर्वप्रकृतीनां तद्विकाराणां च वशित्वं स्वेच्छया प्रेरण-  
सामर्थ्यं<sup>४</sup> प्रकृतिजय इति । एताश्च पञ्चरूपैरिन्द्रियसंयमस्य तिस्रः सिद्धयो मधु-  
प्रतीका इत्युच्यन्ते ।

इति ग्रहणसंयमस्य सिद्धयः उच्यताः ।

अथ ग्रहीतृसंयमस्योच्यन्ते । ग्रहीतुः कार्यकारणविलक्षणत्वान्निर्धर्मत्वाच्च  
रूपभेदो नास्ति । ग्रहीतरि पुरुषसामान्ये उपाधिसत्त्वाद्भेदेन संयमात्साक्षात्कार-  
पर्यन्तात्सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं च भवति, 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्व-  
भावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं<sup>५</sup> च' (यो० ३.४९) इति सूत्रात् । इयं च सिद्धिः सर्व-  
कामावाप्त्याऽखिलशोकरहितत्वाद्विशोकेत्युच्यते । तत्र परमेश्वरवत्स्वेच्छया सर्ववस्तु-  
प्रेरणसामर्थ्यं सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्, प्रकृतिपुरुषादिषु अप्रतिहतेच्छत्वमिति यावत् ।  
सर्वज्ञत्वं<sup>६</sup> तु वक्ष्यमाणम् । तदेव च सार्वज्ञ्यं विवेकज्ञं ज्ञानं तारकमित्युच्यते, सत्त्व-  
पुरुषविवेकसंयमजन्यत्वात्संसारतारकत्वाच्च । तच्च सार्वज्ञ्यं सूत्रेण लक्षितम्—  
'तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकज्ञं ज्ञानम्' (यो० ३.५३) इति ।  
तथा विष्णुपुराणेऽपि लक्षितम्—

१. अथावृणोति—पा० १ पु० ।
२. मनोजयित्वं—पा० २ पु० ।
३. मनोजयित्वं—पा० २ पु० ।
४. प्रेरणा सामर्थ्यं—पा० २ पु० ।
५. ज्ञातृत्वमिति भाष्यसंमतः—पा० १ पु० ।
६. सार्वज्ञ्यं—पा० २ पु० ।



“अन्धं तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम् ।

यथा सूर्यस्तथा ज्ञानं यद्विप्रर्वे<sup>१</sup> विवेकजम् ॥” इति ।

पूर्वं परार्थप्रत्ययाद्भेदेन स्वार्थप्रत्यये संयमस्य तत्साक्षात्कारपर्यन्तस्य पुरुष-  
साक्षात्काररूपा सिद्धिरुक्ता । अत्र तु बुद्धिसत्त्वाद्भेदेन पुरुषे संयमस्य पुरुषसाक्षा-  
त्कारपर्यन्तस्य सार्वज्ञ्यादिसिद्धिरुच्यते इति भेदः । तदिदं ग्रहीतुं संयमस्य सिद्धिद्वयमुक्त्वा  
सूत्रकारेण तस्यैवान्या सर्वसिद्धिमूर्धन्या परमा सिद्धिरुक्ताऽस्ति—‘तद्वैराग्यादपि  
दोषबीजक्षये कैवल्यम्’ (यो० ३.५०) इति । अस्यायमर्थः । क्लेशकर्मरूपाणां दोषाणां  
संसारबीजानामात्मज्ञानेन निःशेषतः क्षये सति तयोः सिद्धयोरपि वैराग्यमूलप्रत्यये  
जायते; तस्माद्वैराग्यात्कैवल्यरूपा सिद्धिरिति । तदुक्तं मोक्षधर्म—

“वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमो विधिः ।

ज्ञानादेव तु वैराग्यं जायते येन मुच्यते ॥” इति ।

यदि च ज्ञानस्यापरिपाकात्सार्वज्ञ्यादिरागस्तिष्ठति तर्हि संयमस्योक्तसिद्धि-  
द्वयं कैवल्याख्यसिद्धयन्तरायो भवतीत्याशयः ।

तदेवं मुख्यसंयमानां सिद्धय उक्ताः । यथा च सर्वज्ञत्वपर्यन्तसिद्धिज्ञानं  
विनाऽपि मोक्षो भवति तथा प्रागेवोक्तम् । इदानीं सिद्धिप्रकारः कथ्यते । यदा  
मनुष्यादिशरीरेणैव देवभावं प्राप्नोति, यदा वाऽणिमादिसिद्धयः प्रादुर्भवन्ति, तदा किं  
संकल्पयोगजधर्माभ्यामतिरिक्तं कारणमपेक्ष्यते न वेति संशये निर्णयसूत्रम्—  
‘जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्’ (यो० ४.२) इति । अस्यायमर्थः । मनुष्यादि-  
शरीरस्य देवादिजात्यन्तररूपः परिणामः सत्त्वादिविशेषरूपाणां देवादिशरीरारम्भ-  
योग्यानामापूरादेव भवति । तत्र चापूरणेऽधर्मादिप्रतिबन्धनिवृत्तिद्वारा योगिसंकल्प-  
योगजधर्मादिकं निमित्तमात्रं; न तु प्रकृतिप्रेरकं भवति, प्रकृतीनां स्वत एव  
सर्वपरिणामसामर्थ्यात् । अतो न प्रकृतिस्वातन्त्र्यक्षतिः । तथा च सूत्रम्—‘निमित्तम-  
प्रयोजकं प्रकृतीनां वरुणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्’ (यो० ४.३) इति । अत्र प्रकृत्या-  
पूरेण प्रकृत्यपसारणमुपनक्ष्यते । जात्यन्तरपरिणामेन च अणिममहिमाद्या अपि सिद्धय  
उपलक्ष्यन्ते । तेन यथायोग्यं प्रकृत्यापूरणापसारणाभ्यां सर्वाः सिद्धय उत्पद्यन्ते ।  
एतेन वामननृसिंहवराहादीनां क्षणेन प्रकृत्यापूरणादेव शरीरवृद्धिः । अगस्त्यादिपीय-  
मानसमुद्रादेश्चाल्पत्वं प्रकृत्यपसरणादुपपन्नमिति । कायव्यूहादिकं तु देहान्तरादि-  
प्रकृतीनां पृथगेवारम्भकसंयोगाद्भवतीति विशेषः ।

ननु यदा योगी कायव्यूहं करोति तदा किं तत्तद्देहप्रतिनियतानि चित्तानि  
चित्तप्रकृतितो निमिमीते किं ना एकेनैव निर्मातृचित्तेन सर्वाणि शरीराण्यधिांतिष्ठतीति  
संशये निर्णयसूत्रम्—‘निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्’ (यो० ४.४) इति । अस्याय-  
मर्थः । अस्मितामात्रमहङ्कारस्तस्मात्कारणाद्बहून्येव शरीरप्रतिनियतानि मनांसि



योगिसंक्लृप्ताज्जायन्त इति । अन्यथा एकचित्तेन विरुद्धानां भोगसमाध्यादीनां नाना-  
देहेष्टेकदा न सम्भवः । तथा श्रीरामरूपलीलाविग्रहे श्रीविष्णोः सर्वज्ञस्य निर्मातृचित्ते-  
नाज्ञानस्वीकारश्च नोपपद्यत इति भावः । योगिनां नानाशरीरैर्विरुद्धानां कार्यं तु  
स्मर्यते—

“प्राप्नोति विषयान्कश्चित्कश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ।

योगेश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च ॥” इति ।

सर्वेषां तु निर्माणचित्तानामेकमेव निर्मातृचित्तं प्रवृत्तिनिवृत्त्योः प्रयोजकं  
भवति, ‘प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषां’ (यो० ४/५) इति सूत्रात् । कदाचित्कं  
त्वेकेनापि चित्तेन नानाशरीराधिष्ठानमत्र न निराक्रियते योगिनां स्वतन्त्रेच्छत्वा-  
दिति<sup>१</sup> । एतेन हिरण्यगर्भादीनां जगत्सृष्ट्यादिरपि प्रकृत्यापूरादिना व्याख्याता ।  
अत्र प्रकृत्यापूरेण जीवान्तराणां स्वस्वोपाधिसंयोगस्याप्युपलक्षणम्, येन योगी  
जीवान्तरसंयोगेन गजतुरगादीनि निर्मायैश्वर्यं भुङ्कत इति ।

यथा च<sup>२</sup> समाधिसिद्धयः प्रागुक्ता एवमेव जन्मादिसिद्धयोऽपि मन्तव्याः ।  
विशेषस्त्वयं समाधिसंस्कृतं चित्तमेवात्मसाक्षात्कारद्वारा साक्षान्मोक्षहेतु न जन्मादि-  
सिद्धमिति ।

तत्र ‘जन्मोपधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः’ (यो० ४.१) इति सूत्रेण  
सिद्धयः पञ्चप्रकारा उक्ताः । तत्र देयानां जन्मसिद्धिरणिमादिरूपा, अमुरादीनां  
चोषधिसिद्धिर्महाबलत्वादि<sup>३</sup>, सुवर्णादिसिद्धिश्च । मन्त्रसिद्धिस्तु मन्त्रैराकाशगमनादिः ।  
तपःसिद्धिश्च तपसा संकल्पसिद्ध्यादिः । समाधिसिद्धयस्तु व्याख्याता इति ।  
प्रह्लादादीनां भक्त्यादिजन्मसिद्धयश्च तपःसिद्धिमध्ये प्रवेशनीयाः, ‘अक्षयः परमो धर्मो  
भक्तिलेशेन जायते’<sup>४</sup> इति स्मृतेः ॥

इति विज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे

योगसिद्धिनिर्माणं तृतीयोऽंशः ।

१. स्वतन्त्रेच्छत्वात्—पा० १ पु० ।

२. तथा च—पा० २ पु० ।

३. महाबलवत्त्वादिः—पा० १ पु० ।

४. इति स्मृत्या तपोन्तरायेऽक्षयाऽपि भक्तिरधिकेत्येव विशेष इति दिक् । इत्य-  
धिकम् २ पु० ।



## अथ चतुर्थोऽंशः

योगविभूतयः प्रतिपादिताः । इदानीं ज्ञानयोगयोर्मुख्यं फलं कैवल्यं प्रतिपाद्यते ।

तत्र सूत्रम्—‘पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिरिति’ (यो० ४.३४) इति । अत्र गुणशब्देन बुद्धिरूपतया परिणताः सत्त्वा-  
दय उक्ताः । कैवल्यमेकाकिता । सा चान्योन्यवियोगरूपतया गुणपुरुषयोरुभयोरेव  
भवति । तत्र विवेकख्यात्या परवैराग्येण पुरुषार्थशून्यानां गुणानां पुरुषोपकरणा-  
नामात्यन्तिकः प्रतिप्रसवः प्रलयः । तस्मात्पुरुषादत्यन्तवियोग इति यावत् । न तु नाशः,  
‘कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्’ (यो० २.२२) इति सूत्रात् ।  
एतदाद्यं कैवल्यं प्रकृतिधर्मः । द्वितीयं च कैवल्यं पुरुषस्य स्वरूपप्रतिष्ठा । सा च  
चित्तिशक्तिरेव प्रतिबिम्बरूपेण उपाधिविमुक्तेत्यर्थः । उभयपक्षेऽपि पुरुषस्य दुःख-  
भोगनिवृत्तिरूपपुरुषार्थं पर्यवसानं भवति । अत एव ‘हेयं दुःखमनागतम्’ (यो० २.१६)  
इति सूत्रम् । अथ ‘त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः’ (सां० १.१) इति  
सांख्यसूत्रं चानेन सूत्रेण सहाविरुद्धम् । वेदान्तिनस्तु परमात्मनि जीवात्मलयो मोक्ष  
इति वदन्ति । तैः सहास्माकं न विरोधः । समुद्रे नदीनामिव ब्रह्मणि जीवानामुपाधि-  
लयेनाविभागस्यैव लयशब्दार्थत्वात्, तस्य च पररूपेणाप्रतिष्ठत्व एव पर्यवसानात् ।  
वैशेषिकास्त्वशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष इत्याहुः । तदप्यस्माकमविरुद्धम् । उपाधेर्विशेष-  
गुणानामेवोपाधिमत्युपचारेण तदुच्छेदस्याप्युपचारात् । नैयायिकास्तवात्यन्तिकी  
दुःखनिवृत्तिर्मोक्ष इतीच्छन्ति । तत्त्वस्मन्मतमेव, भोग्यभोक्तृभावसम्बन्धेन दुःखनिवृत्तिः  
पुरुषार्थो न समवायेनेत्येवास्माकं विशेषात् । यत्तु नवीना वेदान्तिब्रूवा नित्यानन्दा-  
वाप्तिं परममोक्षं कल्पयन्ति तदेव च वयं न मृष्यामहे । ब्रह्ममीमांसादिसकलदर्शनेषु  
तादृशसूत्राभावात्, श्रुतिस्मृतिन्यायविरोधाच्च । तत्र मोक्षे सुखप्रतिषेधिकाः<sup>२</sup>  
श्रुतयः ‘विद्वान्हंशोको जहाति’ (क० २.१२) ‘अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न  
रृशतः’ (छा० ८.१२.१) इत्यादयः । स्मृतिश्च—

१. विरुद्धत्वाच्च—पा० २ पु० ।

२. प्रतिबन्धिकाः—पा० १ पु० ।



“यच्च किञ्चित्मुखं तच्च दुःखं सर्वमिति स्मरन् ।  
 संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम् ॥  
 परमात्मनि संलीनो विद्याकर्मबलान्तरः ।  
 न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि युज्यते ॥” इत्यादिः ।

न्यायश्च मोक्षस्य जन्यत्वे विनाशित्वप्रसङ्गः, नित्यत्वे सिद्धतया न पुरुषार्थ-  
 त्वम् । अयं नित्यमुखस्योपलब्धिरेव मोक्षो वाच्य इति चेन्न । उपलब्धेरपि नित्या-  
 नित्यविकल्पप्रस्तत्वात् । न च नित्यमुखगोचरस्याविद्यादियत्किञ्चिदावरणस्य भङ्ग  
 एव पुरुषार्थो वाच्यः, मुखानुभवस्यैव लोके पुरुषार्थत्वाच्चैतन्यनित्यत्वेनावरणस्याप्य-  
 सम्भवाच्चेत्यादिरिति । नन्वेवं मोक्षे परमानन्दश्रुतिस्मृतयः कथमपपद्येरन्निति चेन्न,  
 मोक्षशास्त्रपरिभाषयैव तदुपपत्तेः ।

“दुःखमेवास्ति न मुखं यस्मात्तदुपलभ्यते ।  
 दुःखार्तस्य प्रतीकारे मुखसंज्ञा विधीयते ।  
 दुःखं कामसुखापेक्षा मुखं दुःखमुखात्ययः ॥”

इत्यादिस्मृतिभिहि दुःखबहुलत्वेन मुखमपि दुःखतया परिभाष्य तादृशदुःख-  
 निवृत्तिरेव सुखत्वेन परिभाषिताऽस्त्युपादेयगुणत्वेनेति । अत एव सांख्यसूत्रम्—  
 ‘दुःखनिवृत्तेर्गोणः’ (सां० ५.६७) इति ‘विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम्’ (सां० ५.६८)  
 इति च । आनन्दावाप्तिस्तु गोणो मोक्षो ब्रह्मलोके भवतीति दिक् ।

तदेवं कैवल्यं संक्षेपेण<sup>१</sup> प्रतिपादितम् ।

योगशास्त्रस्य सारार्थः संक्षेपेणायमीरितः ।

नातोऽधिको मुमुक्षूणामपेक्ष्यो योगदर्शने ॥

सांख्यसारप्रकरणे विवेको बहु वर्णितः ।

नातः प्रपञ्च्यते सोऽत्र ग्रन्थबाहुल्यभीतिः ॥

ब्रह्मप्रकरणे ब्रह्मादशादिबीश्वरोऽपि च ।

वर्णितो वर्ण्यते नात्र ग्रन्थसंक्षेपकाम्यया ॥

समानतन्त्रसिद्धान्तन्यायेनात्र<sup>२</sup> च दर्शने ।

सांख्यानुसारतो ज्ञेयः सूत्रार्थोऽविरोधतः ॥

तैर्दूषितं चेश्वरादि प्रमाथ्यमिह यद्भवेत् ।

त ईश्वरो ब्रह्माशास्त्रे न्यायादौ च प्रसाधितः ॥

तेनाप्यसाधितः स्फोटशब्दो धीवैभवं तथा ।

संक्षेपात्साध्यतेऽस्माभिः सांख्यदोषनिरासतः ॥

१. संक्षेपतः—पा० २ पु० ।

२. सिद्धतन्त्रान्तन्यायेनात्र—पा० २ पु० ।



तत्र शब्दस्तावत्त्रिविधो भवति—वाग्निन्द्रियविषयः श्रोत्रविषयो बुद्धिमात्र-  
विषयश्च । तेषु कण्ठतात्वादिस्थलावच्छिन्नः शब्दो वाग्निन्द्रियस्य विषयः तत्कार्य-  
त्वात् । वाग्निन्द्रियव्यवहितः श्रोत्रस्थश्च शब्दजः शब्दः श्रोत्रस्य विषयः, तदग्राह्यत्वात् ।  
घट इत्यादि पदानि तु बुद्धिमात्रस्य विषयः, वक्ष्यमाणयुक्त्या बुद्धिमात्रग्राह्यत्वात् ।  
तानि पदान्येवार्थस्फुटीकरणत्वात्स्फोट इत्युच्यते । तद्वि पदं वाग्निन्द्रियोच्चार्य-  
प्रत्येकवर्णम्योऽतिरिक्तम्, वर्णानामाशुतरविनाशितया मिलनाभावेनैकं पदमिति-  
व्यवहारगोचरत्वासम्भवात्, अर्थस्मारकत्वासम्भवाच्च । अस्य च स्फोटस्य  
कारणमेकः प्रयत्नविशेषः, प्रयत्नभेदेनोच्चारणे सत्येकपदव्यवहाराभावादर्थ-  
प्रत्ययाच्च । तस्य च स्फोटस्य व्यञ्जक आनुपूर्वीविशेषविशिष्टतयाऽन्त्यवर्ण-  
प्रत्ययः । अतश्च तद्वद्वेरेव स्फोटग्राहकत्वम्, आनुपूर्व्या बुद्धयैव ग्रहणसम्भवेन  
सामानाधिकरण्यप्रत्यासत्त्यैवानुपूर्वीप्रत्ययस्य स्फोटाख्यपदाभिव्यक्तिहेतुत्वे लाघवात् ।  
अत एव स्फोटः श्रोत्रेण ग्रहीतुं न शक्यते । घोटतरत्वादिरूपिण्या आनुपूर्व्याः श्रोत्रेण  
ग्रहणासम्भवात् आशुतरविनाशितया वर्णानां मिलनासम्भवात् । पूर्वपूर्ववर्ण-  
संस्काराणां तत्स्मृतीनां चान्तःकरणनिष्ठामन्तःकरणसहकारित्वस्यैवोचित्यादिति ।

स्यादेतत् । स्फोटव्यञ्जकस्यानुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णस्यैव पदत्वमर्थप्रत्याय-  
कत्वरूपमस्तु, अलं स्फोटेन, तद्वेतोरेव तदस्त्विति न्यायात् । एतदेव साङ्ख्यसूत्रे-  
णोक्तम्—‘प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः’ (सां० ५.५७) इति । एकत्व-  
प्रत्ययोऽप्यानुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णस्यैकत्वेनोपपद्यते इति ।

अत्रोच्यते । एवं सत्यवयव्युच्छेदप्रसङ्गः । असमवायिकारणसंयोगविशेषा-  
विशेषावच्छिन्नानामवयवानामेव जलाद्याहरणहेतुत्वकल्पनायां लाघवात्तद्वेतोरेव तद-  
स्त्विति न्यायसाम्यात् । एको घट इत्यादिप्रत्ययानामप्येक वनमित्यादिप्रत्ययवदुप-  
पत्तेः । अथ परमाणुनां तत्संयोगानां चातीन्द्रियतया तद्रूपत्वेऽवयविनः प्रत्यक्षानुप-  
पत्तिरित्यादिकमवयविसाधकमिति चेत्, तुल्यं स्फोटेऽपि । आनुपूर्व्याः क्षणाद्यतीन्द्रिय-  
घटिततयाऽऽनुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णात्मकत्वे पदस्य प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यादिकं स्फोट-  
साधकमिति । अपि च स्फोटशब्दोऽस्माभिः श्रुतिप्रमाणेनैव स्वर्गादिवत्कल्प्यत इत्यत-  
स्तत्र लौकिकप्रमाणाभावेऽपि न क्षतिः । तथा हि—प्रणवस्याकारोकाररूपमात्रात्रयं  
ब्रह्मादिदेवतात्रयात्मकमुक्त्वा प्रणवदेवतात्रयातिरिक्तपरब्रह्मात्मकचतुर्थमात्रां श्रुतय  
आमनन्ति । सा च चतुर्थी मात्रा वर्णत्रयादतिरिक्तः स्फोट एव सम्भवति । सैव  
चार्धमात्रेत्युच्यते । राशिवदविभक्तयाहि वर्णपदयोर्वर्णं एकमर्थं पद वा तदर्थमित्युप-  
पद्यते । यथा चावयवभ्यो विविच्यावयवी न व्यवहार्यो भवति, एवमेव प्रत्येक-  
वर्णम्यो विविच्य पदमुच्चारयितुं न शक्यत इत्यतः स्मर्यते—



‘अर्धमात्रा स्थिता नित्या याऽनुच्चायो विशेषतः’ इति । ननु स्यादेवमर्धमात्रोपपत्तिः, नादविन्दोस्तु किं स्वरूपम् ? उच्यते । प्रणवे उच्चार्यमाणे शङ्खनादवेणुनादादिवद्यः स्वरविशेषो भवति स नादः, या च नादस्थोपरमावस्थाऽतिसूक्ष्मा सा शून्यतुल्यतया विन्दुरुच्यते इति । तस्मादवयवेभ्योऽवयवीव वर्णैभ्योऽतिरिक्तं पदं तदेव स्फोट इति सिद्धम् । नन्वेवं वाक्यमपि स्फोटः स्यादिति चेत्, बाधकाभावे संतीक्ष्यतामिति दिक् ।

स्फोटो व्यवस्थापितः । मनोवैभवं व्यवस्थाप्यते । धर्माधर्मवासनाश्रयतया प्रतिपुष्टमन्तःकरणं नित्यम् । न च प्रकृतिधर्मा एव सन्तवदृष्टादय इति वाच्यम्, अन्यनिष्ठादृष्टादिभिरन्यत्र सुखदुःखाद्युत्पत्तेऽतिप्रसङ्गात् । तच्च नाशु सम्भवति; योगिनां सर्वावच्छेदेनैकदाऽखिलसाक्षात्कारसम्भवात्, अयोगिनामपि दीर्घशङ्कुलीभक्षणादावनेकेन्द्रियवृत्तानुभवाच्च । न च योगिनां योगजधर्म एव प्रत्यासत्तिः स्यात्, संयोगसंयुक्तसमवायादिलौकिकप्रत्यासत्त्यवोपपत्तौ सन्निकर्षान्तरकल्पने गौरवात्, अन्योन्यं व्यभिचाराच्च; साक्षात्कारेष्ववान्तरजातिकल्पने गौरवाच्च । असमन्ते च सर्वार्थग्रहणसमर्थस्यान्तःकरणस्य तमग्राख्यावरणभङ्ग एव योगजधर्मादिभिः क्रियते, सुषुप्तौ तमसो वृत्तिप्रतिबन्धकत्वसिद्धेरिति । नाप्यन्तःकरणं मध्यमपरिमाणमात्रं सम्भवति, प्रलये विनाशेनादृष्टाद्याधारतानुपपत्तेः । अतः परिशेषतोऽन्तःकरणं विभवेव सिध्यति । तथा च स्मर्यते—

“चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् ।

द्वाभ्यां शून्यतमं विद्धि चिदाकाशं वरानने ॥” इति ।

स्यादेतत् । अन्तःकरणस्य विभुत्वे परिच्छिन्नवृत्तिलाभस्यावरणेनोपपत्तावपि लोकान्तरगमनादिकं नोपपद्यते । अत एव सांख्यसूत्रम्—‘न व्यापकं मनः करणत्वात्’ (सां० ५.६६) इति ‘तद्गतिश्रुतेः’ (सां० ५.७०) इति च । किं चैवं सति लाघवाच्चैतन्यस्यैवावरणकल्पनमुचितम्; किमर्थं विभ्वन्तःकरणं परिकल्प्यते ? तत्र ज्ञानप्रतिबन्धकमावरणं कल्प्यते इति ।

अत्रोच्यते । गतिश्रुतिस्तावदात्मनीवान्तःकरणेऽपि प्राणेन्द्रियाद्युपाधिनोपपद्यते । कार्यकारणरूपेणान्तःकरणद्वैतात्कार्यान्तःकरणस्य स्वतोऽपि गतिरुपपद्यते । कार्यकारणरूपेणान्तःकरणद्वैतं सांख्यैरप्येष्टव्यम् । केवलकार्यत्वे ‘अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्’ (सां० ५.२५) इति सांख्यसूत्रानुपपत्तेः; केवलनित्यत्वे च महदाद्युत्पत्तिसूत्रानुपपत्तेः । यदुक्तं<sup>१</sup> चैतन्यस्यैवावरणकल्पनं युक्तमिति तदयुक्तम्, कूटस्थ-चैतन्यस्य ज्ञानप्रतिबन्धरूपावरणासम्भवात् । न च चैतन्यस्यार्थसम्बन्ध एव प्रतिबिम्बादिरूपे प्रतिबन्धकं कल्पनीयमिति वाच्यम्, एवमप्यात्मदर्शानुपपत्तेः । करणद्वारं विना स्वस्मिन्प्रतिबिम्बादिरूपेण स्वसम्बन्धासम्भवात् । अपि

१. जातिसांकर्यादिति गौरवाच्च—पा० २ पु० ।

२. यत्सूक्तं—पा० २ पु० ।



चेच्छाकृत्याद्याभारतयाऽन्तःकरणे सिद्धे स्वप्नादावन्तर्दश्यमानघटादयोऽपि तस्यैव परिणामाः कल्पन्ते, कार्यकारणयोः सामानाधिकरण्योचित्यात् । त एव च घटाद्याकारपरिणामाश्चैतन्ये भासन्ते । तद्विभागेनैव बाह्यघटादिकं भासते । अतस्तादृशपरिणामप्रतिबन्धकमेवावरण करणनिष्ठत्वं चानुमीयते । आत्मनोऽनावृतत्वं श्रुतिस्मृतिभ्यां चेति । न, विभवा अपि आकाशप्रकृतेः कार्याकाशरूपपरिच्छिन्नपरिणामवद्गुणान्तरभेदेनान्तःकरणप्रकृतेरपि परिच्छिन्नान्तःकरणरूपपरिणामोपपत्तेः । श्रुतिस्मृतिप्रामाण्याच्चैतदिष्यते इति दिक् ।

मनोवैभवं व्यवस्थापितम् । क्षणरूपः कालो व्यवस्थाप्यते तत्र न्यायवैशेषिकाभ्यां मन्यते — आत्मवदखण्डो नित्य एकः कालोऽस्ति; लाघवात्स एव तदुपाध्यवच्छिन्नः सन्क्षणमुहूर्तहोरात्रमाससंवत्सरादिव्यवहारं कुर्वते, न पुनः क्षणनामा पृथक्पदार्थोऽस्तीति । साङ्ख्यैस्तु 'दिवकालावाकाशादिभ्यः' (सां० २.१२) इति सूत्रान्महाकालो वा क्षणादिर्वा पृथक्पदार्थो नास्ति, किन्त्वाकाशमेवोपाधिभिर्विशिष्टं क्षणादिमहाकालान्तव्यवहारं कुर्वते इति मन्यते । तदेतन्मतद्वयमप्यसमञ्जसम्, स्थिरेण केनाप्युपाधिना महाकालाकाशाभ्यां क्षणव्यवहारस्यासम्भवात् । तथा हि — उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्नपरमाणादिक्रियाऽन्यद्वैतादृशं किञ्चिन्महाकालाकाशयोः क्षणरूपतायामुपाधिः परैरिष्यते । तत्रोक्तसंयोगविशिष्टक्रियादिकं चेद्विशेष्यविशेषणतत्सम्बन्धमात्रं तर्हि त्रयाणामपि परैः स्थिरत्वाभ्युपगमान्न तैः क्षणव्यवहारः सम्भवति । यदि च तत्तेभ्योतिरिक्तमिष्यते तर्हि तस्य विशिष्टसंज्ञाः त्रयम् । तदेव चास्माभिः सर्वेभ्यः स्थिरपदार्थेभ्योऽतिरिक्तं क्षणाख्यः काल इष्यते । न तु तन्महाकाल आकाशं वा, तेनैव क्षणव्यवहारोपपत्तौ तदवच्छिन्नस्यान्यस्य क्षणव्यवहारहेतुत्वकल्पनावैयर्थ्यात् । स च विशिष्टादिरस्थिरः क्षणः प्रकृतेरेवातिभङ्गुरः<sup>२</sup> परिणामविशेष इत्यतो न प्रकृतिपुरुषातिरिक्तत्वापत्तिः । तस्यैव च क्षणस्यावयवविशेषै<sup>३</sup>र्मुहूर्तहोरात्रादिविपरार्धान्तव्यवहारो भवति, न त्वखण्डो महाकालोऽस्ति प्रमाणाभावात् । इदानीमद्येत्यादिव्यवहाराणां क्षणप्रचयेनैवोपपत्तेः । कालनित्यताश्रुतिस्मृतयस्तु प्रवाहनित्यतापरा इति । तस्मादावश्यकत्वात्क्षणात्मक एव कालो नाखण्डो महाकालोऽस्ति; नाप्याकाशं कालव्यवहारहेतुरिति सिद्धम् ।

एवमन्येऽप्यस्मच्छास्त्रसिद्धान्ताः साङ्ख्यादिप्रतिषिद्धाः सुबुद्धिभिरुपपादनीया इति दिक् ॥

इति विज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे

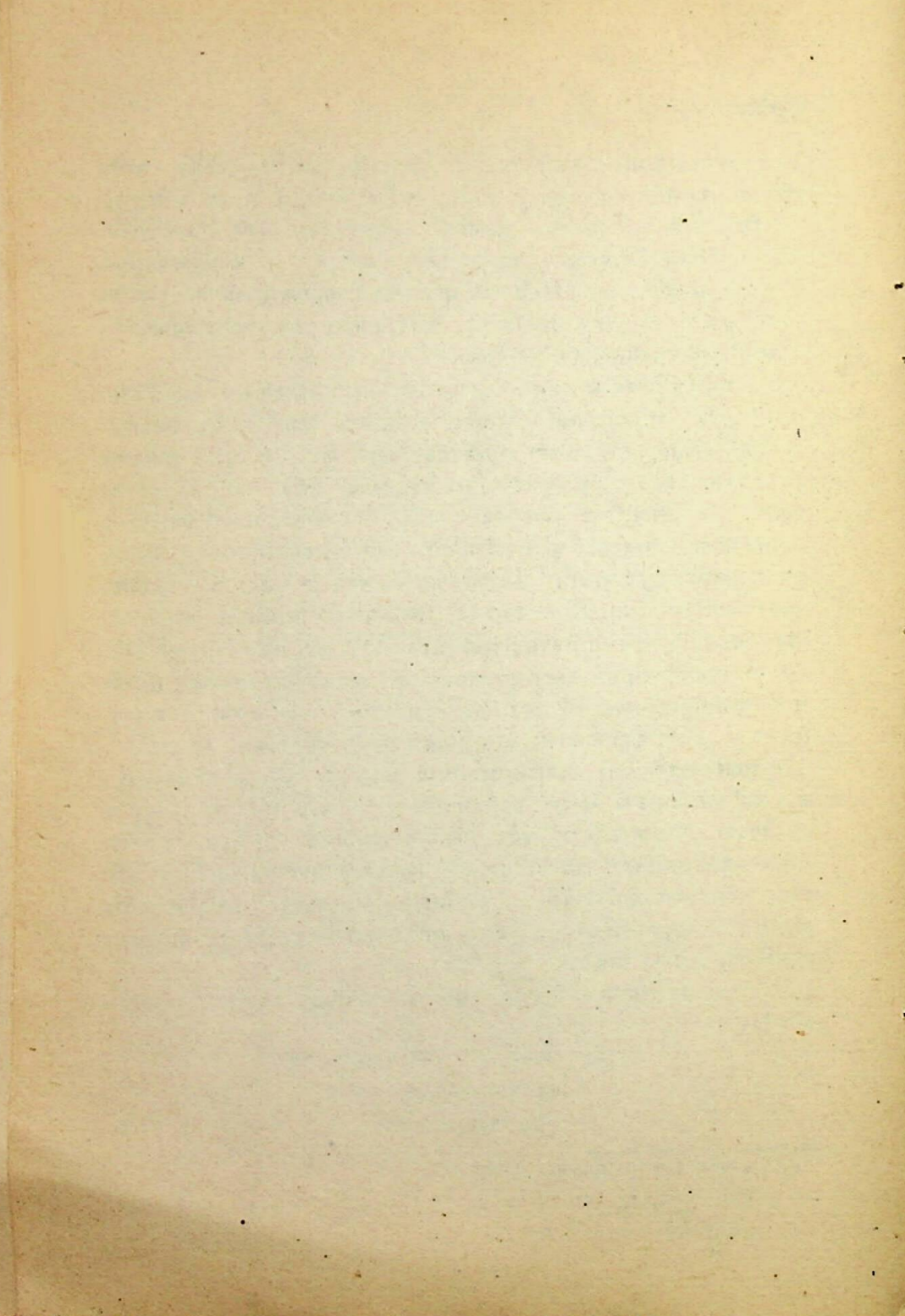
कैवल्यादिरूपणं चतुर्थोऽंशः ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

१. वरणम् । तन्नैव युक्तम् — इत्युपपाठः ।

२. अतिभङ्गुरायाः — पा० २ पु० ।

३. प्रचयविशेषैः — पा० २. पु० ।





## प्रथम अंश योगसारसंग्रह

### मंगलाचरण

सत्त्व-रज-तमोमय महामायारूप अपने शरीर से जिन्होंने ब्रह्मा, विष्णु और शंकर स्वरूप, बुद्धिनामक सूत्रात्मा महत्तत्त्व की रचना की, फिर अन्तर्यामिरूप से उस महामाया के द्वारा ही, मकड़ी की भाँति इस जगतरूप चक्रव्यूह (जाले) की रचना कर, जो अपने ही अंशभूत जीवों को मच्छरों की तरह फँसा देते हैं; उन (परमात्मा) को नमस्कार है ॥१॥

अज्ञानरूपी अन्धकार को ध्वस्त करने वाले सूर्यरूप आचार्य पतञ्जलि एवं व्यास आदि तथा अन्य गुरुजनों को मैं वाणी, मन तथा शरीर के द्वारा भक्ति-पूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥२॥

योगरूपी समुद्र को योगवार्तिकाचलरूपी मयनी के द्वारा मथकर इस ग्रन्थरूपी घट में रखा जा रहा है ॥३॥

### योग-लक्षण

पुरुष की आत्यन्तिकी स्वरूपावस्थिति का हेतुभूत, चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है—यह दोनों प्रकार के (सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात) योग का सामान्य लक्षण है। व्युत्थानकाल में जो स्वल्प चित्तवृत्ति निरोध होता है वह जन्म के कारण-स्वरूप क्लेश आदि का उच्छेदक न होने के कारण तथा चित्त की समस्त वृत्तियों के संस्कारों का भी उच्छेदक न होने के कारण, पुरुष की आत्यन्तिकी स्वरूपावस्थिति रूप मोक्ष का हेतु नहीं है; अतः वहाँ (व्युत्थानकालिक वृत्तिनिरोध में उक्त लक्षण की) अतिव्याप्ति नहीं होती।<sup>१</sup> प्रलय काल में होने वाले वृत्ति-निरोध की व्यावृत्ति-हेतु ही (इस लक्षण में) आत्यन्तिक पद का प्रयोग किया गया है।<sup>२</sup> स्वरूपावस्थिति से अभिप्राय औपाधिक रूप की निवृत्ति से है अथवा स्वरूप का नाश न होना है।<sup>३</sup> स्मृति में कहा गया है—मुक्ति से तात्पर्य अन्यरूप में प्रतीति का नाश होकर, (पदार्थ का स्वरूप में स्थित होना है)। उन (दोनों प्रकार के योग) में से सम्प्रज्ञात नामक योग, तत्त्व के साक्षात् द्वारा क्लेश आदि का उच्छेदक होने से मोक्ष का हेतु है और असम्प्रज्ञात योग समस्त वृत्तियों के संस्कारों का बीज दग्ध कर देता है, इस कारण प्रारब्धकर्मों का भी अतिक्रमण



कर जाने से मोक्ष का हेतु है।<sup>४</sup> योगवात्तिक<sup>५</sup> में हमने इसकी विस्तृत व्याख्या कर दी है, आगे (इस पुस्तक में भी) संक्षेप में इसका वर्णन करेंगे।<sup>६</sup> योग के साधन और मोक्ष के उपाय होने के कारण योग के अंशों में एवं ज्ञान, भक्ति और कर्मादि में भी योग शब्द का गौण प्रयोग होता है।<sup>७</sup>

### वृत्तियाँ

चित्त की वृत्तियों से तात्पर्य किनसे है जिनका निरोध किया जाता है तथा निरोध किसे कहते हैं।<sup>८</sup> प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये वृत्तियों के पाँच प्रकार हैं।<sup>९</sup> इच्छा और कृति आदि रूप वृत्तियों का निरोध तो इन वृत्तियों के निरोध से ही हो जाता है।<sup>१०</sup> इनमें प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम ये प्रमाण हैं।<sup>११</sup> इन्द्रिय के द्वारा जो बुद्धि की यथार्थ वृत्ति होती है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।<sup>१२</sup> ईश्वर की सत्ता का निश्चय करने वाली वृत्ति को भी प्रमाण वृत्ति में सम्मिलित करने के लिए उसका जातित्व यहाँ अभिप्रेत जानना चाहिए।<sup>१३</sup> बुद्धि की वृत्ति दीपक की शिखा के समान बुद्धि का अग्रभाग है, जिससे कि चित्त का एकाग्रता रूप व्यवहार होता है। वह अग्रभाग ही इन्द्रिय द्वारा बाह्यविषय के सम्पर्क में आने पर विषयाकार में उसी प्रकार परिणत हो जाता है जिस प्रकार कि सॉचि में डाला गया पिघला हुआ तँत्रा।<sup>१४</sup> सांख्यसूत्र में भी कहा है—‘वृत्ति चित्त के भाग और गुण दोनों से ही भिन्न पदार्थ है, जो विषय से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये सरकती है’,<sup>१५</sup> बुद्धि क्योंकि विषयों के साथ सम्बन्ध के लिए सरकती है, जाती है, इस कारण वृत्ति न तो अग्नि की चिनगारी के समान बुद्धि का भाग है और न इच्छा आदि के समान उसका गुण ही है क्योंकि द्रव्य में ही क्रिया सम्भव है, यह भाव है। वह वृत्ति जो पुरुष में प्रतिबिम्बित होकर भासती है वही प्रमाण का फलरूप प्रमा कही जाती है और उसी को द्रष्टा की वृत्ति से सारूप्य कहा गया है।<sup>१६</sup>

लिङ्ग के द्वारा उत्पन्न होने वाली वृत्ति अनुमान प्रमाण है।<sup>१७</sup> और शब्द द्वारा उत्पन्न होने वाली वृत्ति शब्द प्रमाण है तथा फल तो सर्वत्र पौरुषेयबोध ही है।<sup>१८</sup> क्योंकि करणों की प्रवृत्ति पुरुष के लिए ही होती है।

विपर्यय वृत्ति दोष के कारण उत्पन्न मिथ्याज्ञान है।<sup>१९</sup> तथा विकल्पवृत्ति ‘राहु का शिर’ और ‘पुरुष का चैतन्य’ इत्यादि रूप है।<sup>२०</sup> विशेष-दर्शन होने पर भी निवृत्त न होने से ही इसकी विपर्यय से भिन्नता है।<sup>२१</sup>

### निरोध

निरोध की व्याख्या की जा रही है। निरोध से तात्पर्य न तो नाश से है और न ही अभाव सामान्य से क्योंकि एक तो अभाव की सत्ता ही नहीं मानी गयी है।<sup>२२</sup> दूसरे उस दशा में यह संस्कार को उत्पन्न करने वाला जैसा आगे बताया गया है,<sup>२३</sup> कैसे माना जा सकेगा। किन्तु चित्त की वृत्ति और उसका निरोध मात्र



अपने विषय की ओर होने वाली चित्त की भावरूपा प्रवृत्ति और निवृत्ति हैं। जिस प्रकार जाना और लौट आना ये दोनों ही पुरुष के प्रयत्न से होने वाले हैं। कारण यह है कि प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का अन्योन्याभाव स्वीकार करने पर उनके स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकेगा। साथ ही प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा औदासीन्य-चित्त की ये तीन स्थितियाँ भी नहीं हो सकेंगी।<sup>२४</sup> अतः भावत्व की समानता होने के कारण वृत्ति की भाँति ही निरोध के द्वारा भी संस्कार उत्पन्न किये जाते हैं क्योंकि प्रतिदिन (निरोध काल में) संस्कार की वृद्धि स्वीकार न करने पर, समय के साथ-साथ योग की वृद्धि मानने का कोई अन्य आधार नहीं है।<sup>२५</sup>

### योग का स्वरूप एवं भेद

योग सामान्य का लक्षण कर दिया गया है। अब उसका विशेष रूप से वर्णन किया जायेगा। वह योग दो प्रकार का है—सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात। जिस निरोध में ध्येय का भली-भाँति ज्ञान होता है अर्थात् साक्षात्कार किया जाता है उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं, इस अवस्था में ध्येय से अतिरिक्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। यह सामान्य से इसका वैशिष्ट्य है। तथा ध्येय-साक्षात्कार रूप फल से युक्त निरोधता ही सम्प्रज्ञातता है। साक्षात्कार रूप से युक्त, कहे जाने का कारण धारणा, ध्यान एवं समाधि आदि तीनों एकाग्र स्थितियों में होने वाले निरोध तथा प्रलयकालीन निरोध से व्यावृत्त करना है। इन धारणा आदि तीनों अवस्थाओं में होने वाला निरोध साक्षात्कार का कारण नहीं है क्योंकि उस काल में अन्य विषयों की वासना अधिक बलवान होने के कारण बाधक होती है, तथा योगजधर्म के द्वारा नष्ट होने वाला अधर्म भी इस अवस्था में प्रतिबन्धक के रूप में विद्यमान रहता है। सम्प्रज्ञात रूप जो योग है वह ध्येय से अतिरिक्त वृत्तियों का निरोधक होने से, विषयान्तर में वृत्तिसंचरण रूप प्रतिबन्ध का भी निरोधक होता है, इसके अतिरिक्त अन्य विषयों की वासनाओं को भी वह निरोध-संस्कारों से अभिभूत कर देता है, साथ ही योगजधर्म के द्वारा विषय के साक्षात्कार में हेतु होता है। चित्त स्वतः ही सर्वार्थ ग्रहण में सक्षम<sup>२६</sup> तथा विभु है।<sup>२७</sup> तमोगुण के द्वारा आवृत्त होने के कारण ही वह सर्वदा सब कुछ ग्रहण नहीं कर पाता। अतः तमोगुण को बढ़ाने वाले तथा अन्य विषयों में संचरण के वासना रूप पाप आदि का, निरोधसंज्ञक योग के द्वारा नष्ट होने पर, चित्त अपने आप ही ध्येय वस्तु का साक्षात्कार कर लेता है—यही योगशास्त्र का सिद्धान्त है।<sup>२८</sup> सम्प्रज्ञात के चार भेदों का वर्णन आगे किया जायेगा।

असम्प्रज्ञात का लक्षण किया जा रहा है। इसमें कुछ भी ज्ञात नहीं रहता, इस व्युत्पत्ति के आधार पर असम्प्रज्ञात योग समस्त वृत्तियों का निरोध है।<sup>२९</sup> उस दशा में संस्कारमात्र अवशिष्ट चित्त रहता है अन्यथा व्युत्थान सिद्ध ही न हो



पाये ।<sup>३०</sup> उसका लक्षण है—तत्त्वज्ञान के संस्कार का दाह न होने पर अन्य सभी वृत्तियों का निरोध ही यहाँ होता है ।<sup>३१</sup> तत्त्वज्ञान के संस्कार के दाह न होने पर' जो कहा गया है उसका तात्पर्य प्रलयकालीन निरोध की व्यावृत्ति है ।

### योग-फल

अब योग का फल कहा जायेगा क्योंकि यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय है । इन दोनों प्रकार के योग का सामान्य जो दृष्ट-फल है वह तो वृत्तियों के निरोध के कारण उन वृत्तियों से होने वाले दुःखभोग की निवृत्ति है तथा सम्प्रज्ञात का अदृष्ट-फल पूर्वोक्त प्रकार से ध्येय का साक्षात्कार है । जैसा कि (यो० सू० १।४१) में कहा भी है—'स्वेच्छ स्फटिक मणि के समान क्षीणवृत्तियों वाले तथा ग्रहीता, ग्रहण एवं ग्राह्य में स्थित चित्त का, उनके आकार को ग्रहण कर लेना समापत्ति है । तदनन्दर अविद्या आदि क्लेशों की निवृत्ति के द्वारा मोक्ष सिद्ध होता है । तथा कामना अवशिष्ट रहने पर भूतेन्द्रिय तथा प्रकृतिजय रूप सिद्धि के द्वारा स्वेच्छा से आभोग किया जा सकता है ।'<sup>३२</sup> असम्प्रज्ञात का तो अदृष्ट-फल तत्त्वज्ञान के साधारण संस्कारों का तथा समस्त प्रारब्ध-कर्मों के संस्कारों का दाह कर देने से स्वेच्छा से शीघ्र मोक्ष को प्राप्त कर सकना है । तत्त्वज्ञान के द्वारा अपने संस्कारों को तथा प्रारब्ध-कर्मों को अतिक्रमित नहीं किया जा सकता क्योंकि उनसे उनका विरोध नहीं है । जैसा कि छान्दोग्य-उपनिषद् में भी कहा है—'उसको उतनी ही देर होती है, जब तक वह बन्ध से मुक्त नहीं होता ।' इस श्रुति के अनुसार ज्ञानी को मोक्ष में प्रारब्ध के कारण कुछ विलम्ब होता है—यह सिद्ध होता है । ज्ञान के द्वारा प्रारब्धकर्मों का यदि नाश माना जायेगा तो जीवन्मुक्त के विषय में जो श्रुति एवं स्मृतियाँ मिलती हैं, उनसे विरोध होगा । प्रारब्धकर्मों का ज्ञान के द्वारा नाश होने का वेदान्त सूत्रों के द्वारा प्रतिषेध किया गया है परन्तु योग के द्वारा प्रारब्ध कर्मों के नाश में किसी प्रकार के बाधक का होना नहीं बताया गया है—'समाधि सम्पन्न योगी, योगाग्नि द्वारा दग्ध कर्मों के समुच्चय से उस ही जन्म में मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ।'

इस प्रकार विलम्ब का अभाव सुनने के कारण प्रारब्ध कर्मों का नाश होता है यह सिद्ध हुआ । अतः प्रारब्ध-कर्मों का भी अतिक्रमण कर शीघ्र मोक्ष के इच्छुक को ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर भी असम्प्रज्ञात योग की अपेक्षा रहती है । हमारे द्वारा विस्तारपूर्वक यह योगवार्तिक में कह दिया गया है ।<sup>३३</sup> इस प्रकार असम्प्रज्ञात के अभाव होने पर भी प्रारब्ध-कर्मों के भोग के अनन्तर ज्ञानियों को मोक्ष हो ही जाता है, इस सिद्धान्त का उक्त तर्क के द्वारा विरोध नहीं होता । इस विषय में 'उसके (मोक्ष में) तभी तक विलम्ब है जब तक वह मुक्त नहीं होता,' इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं । और अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर कारण का अभाव होने



से पुनर्जन्म भी नहीं होता। श्रुति में प्रयुक्त 'विमोक्ष्ये' पद का अर्थ है कि साधक प्रारब्धकर्मों से मुक्त हो जाता है।

यदि शंका की जाये कि—'योगाग्नि तत्काल समस्त, पाप से उत्पन्न संस्कारों को नष्ट कर देती है, तथा यह निर्वाण को सिद्ध करने वाला ज्ञान बलात् उत्पन्न हो जाता है।'—इत्यादि स्मृति की एकवाक्यता होने के कारण योग के द्वारा जो कर्मों का नाश होना बताया गया है, उन्हें सम्प्रज्ञात योग परक ही समझना चाहिये।<sup>३४</sup> यह उचित नहीं है। उक्त वाक्य द्वारा सम्प्रज्ञात योग के द्वारा ज्ञान के प्रतिबन्धक मात्र पाप का नाश ही बताया गया है, न कि समस्त कर्मों का नाश। यदि सम्प्रज्ञात योग को जो कि ज्ञान का हेतु है समस्त कर्मों का नाशक मान लिया जाये तो 'हे अर्जुन ! ज्ञानाग्नि के द्वारा समस्त कर्मों को भस्म कर दिया जाता है'—इत्यादि शास्त्रों में जो ज्ञान के द्वारा समस्त कर्मों का नाश होना बताया है, वह भी सिद्ध नहीं हो सकेगा और जो योग के समस्त कर्मों के नाश परक श्रुति-वाक्य यथा 'योगाग्नि के द्वारा तत्काल कर्मशय दग्ध हो जाता है'—सुने जाते हैं, वे सम्प्रज्ञात योग परक ही हैं। अतः इन दोनों वाक्यों की सम्प्रज्ञात योग परकता के साथ एकवाक्यता नहीं घटती। इस कारण—'योगाग्नि .....।' इत्यादि वाक्यों का अर्थ यह है कि सम्प्रज्ञात योग एवं उनके द्वारा उत्पन्न ज्ञान के द्वारा नष्ट न होने वाले प्रारब्ध-कर्म असम्प्रज्ञात योग के द्वारा जो कर्मों का नाश बताया गया है उससे तात्पर्य इनके सहकारी कारणों के उच्छेद होने पर उनको फल उत्पन्न करने में असमर्थ बनाना है और दाह भी यही है। यथा कहा भी गया है—'ज्ञान के द्वारा अविद्या आदि क्लेशों का नाश हो जाने पर सहकारी कारण का उच्छेद हो जाने से ही कर्म अपने विपाक को आरम्भ करने में समर्थ नहीं होते 'सति मूले तदविपाकः.....' (यो० सू० २।१।) इस सूत्र के द्वारा कर्मों के मूल में क्लेशों के होने पर ही विपाक का आरम्भ बताया गया है तथा व्यासभाष्य के द्वारा भी इसी रूप में इसकी व्याख्या की गयी है।<sup>३५</sup> अतः ज्ञान के द्वारा जो कर्मों का नाश एवं दाह कहा गया है वह तर्क के द्वारा सिद्ध बात का पुनः कथन मात्र है। इसी प्रकार असम्प्रज्ञात योग के द्वारा भी योग के हेतु, वासना के रूप में विद्यमान कर्मों के सहकारी कारण का उच्छेद मात्र ही है। क्योंकि व्युत्थान के संस्कारों का अधिक बलवान् निरोध के संस्कारों द्वारा जो उच्छेद होता है वह सूत्र एवं भाष्य दोनों के द्वारा कहा गया है,<sup>३६</sup> साथ ही हमारा अनुभव भी यही है। अतः असम्प्रज्ञात योग जब क्रमशः समस्त वासनाओं का नाश कर देता है तब प्रारब्ध-वर्म भी जिनका फल देना अभी अवशिष्ट रहता है, फल देने में समर्थ नहीं होते क्योंकि वासना भी कर्मों के सहकारी रूप में सूत्र एवं भाष्य के द्वारा बतायी गयी है।<sup>३७</sup> तदनन्तर वे प्रारब्ध-कर्म जिनके फल का अभी उभोग नहीं हुआ है वे अपने आश्रय रूप चित्त के नाश के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। पुरुषार्थ के अभाव



में चित्त की अवस्थिति नहीं रहती क्योंकि पुरुषार्थ ही चित्त की स्थिति में कारण होता है। अतः असम्प्रज्ञात योग के द्वारा प्रारम्भ कर्मों का दाह करना युक्ति भी सिद्ध है।

### सम्प्रज्ञात योग के भेद

इस प्रकार उपरिवर्णित रूप में सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात दोनों प्रकार के योग का फल कह दिया गया है। अब सम्प्रज्ञात योग के अवान्तर भेदों को बताया जायेगा। वह सम्प्रज्ञात योग चार प्रकार का होता है—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत। साक्षात्कारविशेष के सन्दर्भ में वितर्कादि—ये चारों तान्त्रिक परिभाषाएँ हैं ऐसा जानना चाहिये। जब चित्त की वृत्तियों का निरोध होने पर पदार्थ विशेष का फल सहित साक्षात्कार होता है, उसकी वितर्कानुगत आदि संज्ञा होती है। जिस प्रकार क्रमशः सीपान पर आरुढ़ हुआ जाता है उसी प्रकार वितर्कादि भी क्रमिक उत्तरोत्तर उच्च भूमियाँ ही हैं। अतः वितर्क आदि का जो क्रम बताया गया है वह स्वाभाविक सूक्ष्म विषय में प्रवेश नहीं कर सकता। स्मृति में भी कहा गया है—‘योग के प्रारम्भ में हरि मूर्ति आदि (स्थूलतम) विषय का चिन्तन करे, तदनन्तर स्थूल विषय को त्याग कर चित्त को क्रमशः सूक्ष्म विषय पर ले जाये।’

स्थूल आदि विषयों में राग होने के कारण भी (उन पर चित्त को एकाग्र किये बिना) उत्तरोत्तर भूमियों में चित्त एकाग्र नहीं हो सकता। अतः स्थूल आदि विषयों का साक्षात्कार करके उन विषयों में दोष देख कर उससे सूक्ष्म विषय की ओर उत्तरोत्तर बढ़ना ही राजमार्ग अर्थात् सर्वोत्तम-मार्ग है। जिस साधक को कभी ईश्वर की कृपा से उत्तर की भूमि में आरोह हो जाता है, तब उसके द्वारा निम्न-भूमि की सिद्धि की इच्छा न होने पर उन पूर्व की भूमियों का अभ्यास नहीं किया जाना चाहिये क्योंकि उत्तर की भूमिका का फल तो प्राप्त हो ही गया होता है (जो कि साधक का चरम-लक्ष्य है)। भाष्यकार के द्वारा भी कहा गया है—‘ईश्वर की कृपा से जिस साधक ने उत्तर की भूमिका को प्राप्त कर लिया हो, उसके द्वारा उससे नीचे की भूमियों में चित्त नहीं लगाया जाना चाहिये क्योंकि उस निम्न भूमि पर चित्त को एकाग्र करने के फल की प्राप्ति अन्य रूप में हो ही गयी है।’

इन चारों ही भूमियों का आलम्बन विषय एक ही होना चाहिये अन्यथा पहले-पहले विषयों की उपासना प्रारम्भ कर बीच में ही छोड़ देने का दोष लगेगा, तथा चित्त की चञ्चलता भी प्राप्त हो सकती है।<sup>२०</sup> यथा—जो चतुर्भुज आदि का विराट् शरीर अथवा समष्टि या व्यष्टि रूप में संपटित छद्मबीस तत्त्वों के संघात रूप पदार्थ पर जो सर्वप्रथम भावना की जाती है वही आलम्बन कहा जाता है उस आलम्बन में सर्वप्रथम उसके स्थूल आकार पर धारण, ध्यान एवं समाधि किये जाते हैं, जिससे पदार्थ के स्थूल रूप के समस्त विशेषों के प्रतीत, अनागत, वर्तमान



एवं व्यवहित तथा विप्रकृष्ट, अश्रुत तथा अचिन्तित गुणों एवं दोषों का साक्षात्कार होता है उसे ही वितर्क कहा जाता है।<sup>३६</sup> तप एवं जन इत्यादि साधनों के द्वारा जो ध्रुवादि भक्तों द्वारा चतुर्भुज आदि का साक्षात्कार किया गया है, वह इससे विलक्षण है। उनके सन्दर्भ में उन ध्रुव आदि के तप एवं ध्यान आदि से सन्तुष्ट अथवा प्रसन्न हुए ईश्वर ने स्वयं शरीर धारण कर, उस साधक के सामने प्रकट होकर वार्तालाप किया था। इसके विपरीत योगी तो योग के बल पर वैकुण्ठ अथवा श्वेतद्वीप आदि में विद्यमान ही, स्वयं अन्यत्र बैठे हुए उन चतुर्भुज आदि को देख लेता है। इस स्थिति (में वह मात्र देख पाता है) उससे वार्तालाप सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त इसका वैशिष्ट्य यह भी है कि वह उस चतुर्भुज आदि के बाह्य एवं आन्तरिक समस्त गुणों एवं दोषों के अतीत एवं अनागत का भी साक्षात्कार कर लेता है (जो कि ध्रुव आदि के द्वारा सम्भव नहीं है)। इस प्रकार वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की व्याख्या कर दी गयी है।

अब विचारानुगत सम्प्रज्ञात योग की व्याख्या की जा रही है। उस आलम्बन में ही (जिसमें सर्वप्रथम साक्षात्कार प्रारम्भ किया था) स्थूल आकार का साक्षात् कर चुकने पर स्थूल आकारक दृष्टि का परित्याग कर क्रमशः प्रकृति पर्यन्त जो सूक्ष्म विषय हैं उन-उनमें धारणा आदि तीनों के द्वारा जो पहले (अर्थात् जैसा वितर्कानुगत का वर्णन करते हुए बताया गया है) की भांति सम्पूर्ण रूप से (अर्थात् पदार्थों के अतीत, अनागत व वर्तमान सभी रूपों का गुण दोष सहित) साक्षात्कार होता है (उसे विचार इस नाम से अभिहित किया जाता है। सूक्ष्म शब्द से तात्पर्य यहाँ कारण से है अतः यहाँ तन्मात्र, अहंकार महत्तत्त्व एवं प्रकृति इनको सूक्ष्म शब्द द्वारा ग्रहण किया जाता है (क्योंकि ये सभी किसी न किसी के कारण हैं)।

शंका की जा सकती है कि स्थूल आलम्बन में यदि (स्थूल के बदले) सूक्ष्म दृष्टि की जाये तो वह यथार्थ कैसे होगी। तो यह उचित नहीं है। क्योंकि समस्त शरीर तथा घट आदि, छद्मीस तत्त्वों के कार्य हैं और कार्य-कारण में भेद मानते हुए उन्हें छद्मीस तत्त्व रूप ही माना जा सकता है।<sup>३७</sup> और साथ ही समस्त पदार्थ अपने कार्य रूप में असत् हैं तथा कारण रूप में ही सत् हैं। इस कारण भी स्थूल पदार्थों में सूक्ष्म दृष्टि को यथार्थ नहीं कहा जा सकता, श्रुति भी कहती है— 'समस्त विकार तो बाणी के आरम्भक मात्र हैं, सत्य तो मूर्तिका मात्र ही है।' (छा० ६)।

यदि शंका की जाय कि जो देख नहीं रहा अथवा जिसे देखा नहीं जा सकता उस सूक्ष्माकार पर किस प्रकार भावना की जा सकती है; तो यह उचित नहीं है। क्योंकि सामान्य रूप से तो जिन पदार्थों को सुना अथवा सोचा होता है मात्र उन पर ही भावना की जा सकती है परन्तु योगजधर्म के बल से तो वे पदार्थ जिन्हें न सुना हो और न ही जिन पर कभी चिन्तन किया हो उन्हें



भी ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार समस्त (सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम) विषयों के सन्दर्भ में जानना चाहिये। इस प्रकार विचारानुगत सम्प्रज्ञात योग की व्याख्या कर दी गयी है।

अब आनन्द की व्याख्या की जा रही है। उस आलम्बन में ही (जहाँ स्थूल एवं सूक्ष्म की भावना की गयी थी) सूक्ष्माकार का साक्षात्कार करने के उपरान्त उस दृष्टि का भी परित्याग कर चौबीस तत्त्वों में विद्यमान सुख रूप पुरुषार्थ पर धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा जो पहले की भाँति ही सम्पूर्ण रूप से सुखाकार का साक्षात्कार होता है, उसे आनन्द कहा जाता है, ज्ञान एवं ज्ञेय में अभेद का उपचार होने के कारण। यद्यपि प्रकृति त्रिगुणात्मक है अतः सुख की भाँति दुःख एवं मोह भी सर्वत्र ही होते हैं<sup>४१</sup> तथापि सुख के प्रति राग होने के कारण ही जन्म-मरण एवं आत्मदर्शन होते हैं अतः उस सुख का ही योग के द्वारा सम्पूर्ण रूप से साक्षात्कार किया जाना चाहिए। वहाँ दोष देखकर साधक उसमें दुःख का अनुभव करते हुए उसके प्रति वैराग्य-युक्त हो जाएगा, इस आशय से ही आनन्द मात्र में योग का उपदेश दिया गया जानना चाहिए।<sup>४२</sup> मोक्षधर्म (महाभारत) में तो धर्म एवं धर्मों में अभेद मानते हुए अन्य धर्मों की भाँति ही आनन्द को भी चौबीस तत्त्वों में ही प्रविष्ट करके सम्प्रज्ञात योग के तीन प्रकार बताए गए हैं—

‘सम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास करते हुए मुनि को क्रमशः वितर्कानुगत, विचारानुगत तथा विवेकानुगत तीन प्रकार की समाधि उत्पन्न होती है।’

प्रथम योग से तात्पर्य यहाँ सम्प्रज्ञात योग से है। समादधानस्य का अर्थ है—करते हुए मुनि को, आदितः अर्थात् क्रमशः वितर्कादि तीनों उत्पन्न होते हैं। उनमें विवेक आगे बतायी जाने वाली अस्मिता ही है। इस प्रकार आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात योग की व्याख्या कर दी गयी है।

अब अस्मिता की व्याख्या की जा रही है। इस प्रकार उपरिवर्णित रूप में भूमिका क्रम से स्थूल, सूक्ष्म एवं आनन्द स्वरूपों के बहुत से दोषों का साक्षात्कार करके उनसे विरक्त हुआ साधक जब उस ही आलम्बन में आत्मा का कूटस्थ, विभु, चिन्मात्रत्व आदि रूपों में, पहले की अवस्थाओं से भिन्न, साक्षात्कार करता है—तब उसे अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। क्योंकि उस अवस्था में ‘मैं देह आदि से भिन्न हूँ’, इस प्रकार का बोध होता है।<sup>४३</sup> आत्मज्ञान के अनन्तर क्योंकि कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रहता अतः यह चरमभूमि होती है। इस आत्म-साक्षात्कार की ही पराकाष्ठा धर्ममेघ समाधि कही जाती है, जिसके उदित होने पर ज्ञान के प्रति भी अलं-प्रत्यय रूप पर-वैराग्य के द्वारा असम्प्रज्ञात योग उत्पन्न होता है। इस अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग के दो विषय होते हैं। चौबीस (प्रकृति और उसके कार्य रूप) तत्त्वों से भिन्न आत्म-सामान्य और (पुरुष सहित) पञ्चीस तत्त्वों



से भिन्न परमात्मा ।<sup>४४</sup> इन दोनों में भी स्वाभाविक भूमिका क्रम होता है—‘चौबीस तत्त्वों से भिन्न जो पच्चीसवाँ तत्त्व है, उससे विविक्त केवलीभूत छब्बीसवें तत्त्व को देखता है ।’

इस प्रकार स्मृति में कहा गया है । क्योंकि जीव से भी परमात्मा सूक्ष्म होता है, जीव के ही स्वरूप का प्रत्यक्ष होता है, उस अवस्था में इसका अपरिच्छिन्न ज्ञान वाला होना तथा कूटस्थ नित्य होने आदि का ज्ञान होता है ।<sup>४५</sup> परन्तु परमात्मा का वहाँ प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । सत्त्वगुणान्यताख्याति पद से जो योग अनेक स्थलों में वर्णित है वह आत्मसामान्य विषयक ही है, ऐसा सूत्र एवं भाष्य दोनों के द्वारा कहा गया है ।<sup>४६</sup> परमात्मविषयक योग तो ‘ईश्वरप्रणिधानाद्वा’ इस सूत्र एवं उसके भाष्य के द्वारा ही कहा गया है ।<sup>४७</sup> मत्स्य एवं कूर्म पुराणों में भी कहा गया है—

‘योगी तीन प्रकार के जानने चाहिएँ, भौतिक, सांख्य तथा अन्त्याश्रमी; इनमें तीसरा उत्तम योग में स्थित (जानना चाहिए) । पहले योगी में प्रथमा भावना रहती है, सांख्य में अक्षर भावना रहती है और तीसरे योगी में अन्तिम परमेश्वर-परक भावना रहती है ।’

यहाँ जो भूत शब्द का प्रयोग किया गया है वह समस्त जड़ पदार्थों का उपलक्षक है । अन्तिम आश्रम वाला साधक ही परमहंस होता है । सर्वप्रथम भूतविषयक भावना की जाती है । पूर्व से तात्पर्य प्रथम योग में से है । सांख्ये से तात्पर्य है मध्यम योग में अक्षर की भावना की जाती है अर्थात् कूटस्थ चित्सामान्य की भावना वहाँ होती है । तीसरी परमहंस में अन्तिम में पारमेश्वरी अर्थात् परमात्मविषयक भावना की जानी चाहिए यह भाव है । अतः सम्प्रज्ञात की समस्त भूमियों के मध्य परमेश्वरपरक योग ही श्रेष्ठ है । इसी प्रकार कूर्मपुराण में भी कहा गया है—

‘जिस योग में तुम मुझे एक नित्यानन्द, निरञ्जन आत्मा रूप से देखते हो वह महायोग परमेश्वर सम्बन्धी कहा जाता है । विभिन्न ग्रन्थों में योगियों के और जितने भी योग सुने जाते हैं वे सब इस ब्रह्म योग की सोलहवीं कला के समान भी नहीं हैं । जिस योग में मुक्त पुरुष साक्षात् विश्वात्मा का साक्षात्कार करते हैं । वह सभी योगों में श्रेष्ठ माना गया है ।’

यदि यह शंका की जाय कि अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग किस प्रकार अचेतन घट रूप आलम्बन में सम्भव है तो उचित नहीं है क्योंकि कारणरूप में जीव तथा परमेश्वर सब जगह अनुस्यूत हैं, साथ ही जो मुक्तात्मा हैं वे भी विभु होने के कारण सर्वत्र व्याप्त हैं ।



इस प्रकार अर्थात् उपरिवर्णित रूप में सम्प्रज्ञात योग के चारों भेदों का निरूपण कर दिया गया है। उन चारों में ही चार स्थूल आदि के साक्षात्कार रूप वितर्क प्रादि को समापत्ति शब्द से भी शास्त्र में परिभाषित किया गया है।<sup>४८</sup> उनमें भी जो वितर्कानुगत तथा विचारानुगत समापत्तियाँ हैं उनके भी दो-दो भेद हैं। उनमें वितर्कानुगत के पुनः दो भेद सवितर्क तथा निवितर्क होते हैं और विचारानुगत भी सविचार और निविचार के भेद से दो रूपों की है। भूत तथा इन्द्रिय रूप जो स्थूल साक्षात्कार वितर्कानुगत कहलाता है, वह जब शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के विकल्प से मिश्रित होता है तब उसे सवितर्क समापत्ति कहा जाता है। इससे रहित (अर्थात्—शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प से रहित) को निवितर्क समापत्ति कहा जाता है।

यहाँ जो शब्दार्थ ज्ञान का विकल्प कहा गया है उससे क्या तात्पर्य है यह बताया जा रहा है। हरि यह एक शब्द है, हरि एक अर्थ है तथा हरि यह ज्ञान है।<sup>४९</sup> इन तीनों—शब्द, अर्थ तथा ज्ञान की एकाकार रूप में जो अभेद प्रतीति है वही पूर्वोक्त विकल्प रूप शब्दार्थज्ञान विकल्प है। उस विकल्प से युक्त स्थूल पदार्थ का साक्षात्कार ही सवितर्क अथवा सविकल्प कहलाता है और उससे रहित जो स्थूल साक्षात्कार होता है वह निवितर्क अथवा निविकल्प कहा जाता है। जो आधुनिक तात्त्विक<sup>५०</sup> विशेषण से रहित आत्मसाक्षात्कार को ही निविकल्प मानते हैं, उसे तो अप्रामाणिक जानना चाहिए। इसी युक्ति के आधार पर, यहाँ जो शब्दादि का विकल्प कहा गया है वह विकल्प सामान्य का उपलक्षक है<sup>५१</sup> यह जानना चाहिए। इससे रहित निविचार समापत्ति होती है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात के समस्त भेदों का वर्णन कर दिया गया है।

वे जो सम्प्रज्ञात योग के भेद (ऊपर वर्णित किये गए) हैं, सभी सालम्बन होने से सजीव योग कहे जाते हैं; ध्येय रूप आलम्बन युक्त होने के कारण तथा वृत्ति के बीजरूप संस्कारों को उत्पन्न करने के कारण।

### सम्प्रज्ञात योगियों की भूमिकाएं

सम्प्रज्ञात योगियों की चार भूमियाँ होती हैं। यथा प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक प्रज्ञाज्योति तथा अतिक्रान्तभवनीय। इनमें सवितर्क समापत्ति युक्त प्रथम होता है क्योंकि इस भूमि में उसने शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के विकल्प को त्यागा नहीं होता। दूसरा निवितर्क समापत्ति युक्त होता है, उसी को ऋतम्भरा प्रज्ञा वाला कहा जाता है,<sup>५२</sup> उस प्रज्ञा में क्योंकि असद् के आरोप का सम्पर्क भी सम्भव नहीं होता। इस भूमि को मधुमती भी कहा जाता है। मधु के समान तृप्ति के साधनभूत प्रज्ञा से युक्त होने के कारण। तदनन्तर क्रमशः निविचार समापत्ति निष्ठ प्रकृति पर्यन्त को जीतने वाले की तीसरी भूमि होती है। इस ही भूमि में आनन्दानुगत का प्रवेश होता है। तदनन्तर अस्मितानुगत योग की निष्पत्ति पर्यन्त चौथी



भूमिका वाला होता है और इस भूमि की धर्ममेघ नामक समाधि में परिसमाप्ति होती है। धर्ममेघ समाधि उसे कहते हैं जब सिद्धि की कामना का त्याग कर साधक को निरन्तर उत्पन्न हुई सत्त्वगुणान्यताख्याति के प्रवाह से वासना सहित अविद्या की निवृत्ति होने पर, प्रयोजन के अभाव में उस दुःखात्मिका ख्याति में भी अल-प्रत्यय रूप पर-वैराग्य उत्पन्न होता है और जिसके पश्चात् असम्प्रज्ञात योग उत्पन्न होता है। सर्वज्ञता आदि प्रकृष्ट धर्म की वर्णा करने वाली होने से धर्ममेघ समाधि कही जाती है।<sup>५३</sup>

शंका की जाती है कि क्या सर्वज्ञता आदि के बिना जीवन्मुक्ति तथा परम-मोक्ष नहीं होते ? नहीं होते ऐसा नहीं है क्योंकि भाष्य में स्पष्ट कहा गया है। वह इस प्रकार है। सर्वज्ञत्व पर्यन्त समस्त योग सिद्धियों की व्याख्या के पश्चात् भाष्य कहता है—“ईश्वर (सिद्धि युक्त) को अथवा अनीश्वर (सिद्धि रहित) को, जिसने विवेक ज्ञान प्राप्त कर लिया है अथवा अन्य जिसके क्लेश के बीज दग्धभाव को नहीं हुए हैं, इनमें से किसी को भी साधन की अपेक्षा नहीं होती; सत्त्वशुद्धि के से यह समाधि जन्य ऐश्वर्य तथा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। वस्तुतः तो

गारा अज्ञान की निवृत्ति होती है। उसके निवृत्त हो जाने के पश्चात् अन्य श नहीं रहते। क्लेशों का अभाव होने पर कर्म-विपाक भी नहीं होता। और गुण न; उस अवस्था में चरिताधिकार होकर पुरुष के दृश्य के रूप में विद्यमान नहीं रहते। यही पुरुष का कैवल्य है। (यो० भा० ३.५५)” यहाँ जो विवेकख्याति के पश्चात् सिद्ध होने वाला विवेकज ज्ञान बताया गया है उसमें तात्पर्य पूर्वसूत्र में वर्णित सर्वज्ञता से ही है। सत्त्वशुद्धि से तात्पर्य उन पदार्थों के प्रति वैराग्य से है, जिनका कि वह उपभोग कर चुका है। अतः सर्वज्ञता आदि पर्यन्त धर्ममेघ समाधि के उत्पन्न न होने पर भी अभिमान, राग-द्वेष आदि के रूप में जो संसार के बीज हैं उनके दाह से ही दोनों प्रकार की मुक्ति हो सकती है यह सांख्याभिमत सिद्धान्त यहाँ भी मान्य है।<sup>५४</sup> असम्प्रज्ञात योग तो समस्त वासनाओं के क्षीण हो जाने पर, प्रारब्ध का भी अतिक्रमण कर शीघ्र ही स्वेच्छा से मोक्ष दिलाने में समर्थ है। उसमें क्रम की आवश्यकता नहीं है, यह पहले ही बता दिया गया है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात का वर्णन कर दिया गया है।

#### असम्प्रज्ञात योग के भेद-उपाय प्रत्यय

अब असम्प्रज्ञात योग की व्याख्या की जा रही है। असम्प्रज्ञात योग दो प्रकार का है—उपायप्रत्यय तथा भवप्रत्यय। शास्त्रोक्त उपायों का अनुष्ठान करने से जो इस लोक में ही असम्प्रज्ञात योग उत्पन्न होता है उसे उपाय-प्रत्यय कहा जाता है। क्योंकि यहाँ प्रत्यय पद कारण का वाचक है और उपाय जैसा कि योग सूत्र १।२० में बताया गया है—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा रूप हैं। इनमें श्रद्धा से तात्पर्य योग में प्रीति से है। वीर्य से तात्पर्य चित्त की



धारणा से है। स्मृति ध्यान को कहते हैं। समाधि योग का चरम अङ्ग है। प्रज्ञा सम्प्रज्ञात योग से उत्पन्न साक्षात्कार है। ये क्रमशः प्रागे बताए जाने वाले पर-वैराग्य के द्वारा असम्प्रज्ञात योग के कारण होते हैं और उन उपायों का अतिशीघ्र तीव्रतर अनुष्ठान करने से असम्प्रज्ञात योग और उसका फल मोक्ष प्रासन्नतर हो जाता है। उपायों के अनुष्ठान में कुछ शिथिलता होने पर भी ईश्वर-प्रणिधान से वे दोनों अधिक समीप हो जाते हैं क्योंकि परमेश्वर का प्रणिधान करने पर उसका अनुग्रह साधक पर हो जाता है।

**ईश्वर**

अब प्रश्न होता है कि ईश्वर क्या है तथा उसका प्रणिधान किसे कहते हैं ? वह बताया जा रहा है। अविद्या आदि पाचों क्लेशों से, धर्म एवं अधर्म से तथा उसके विपाकों और संस्कार सामान्य से जो तीनों कालों में रहित रहता है, वह पुरुष-विशेष ही ईश्वर कहलाता है। और 'अब ब्रह्म की जिज्ञासा आरम्भ की जाती है' (ब्रह्म सू. १.१.१) इत्यादि वेदान्त सूत्रों के द्वारा सम्पूर्ण रूप से उसका विवेचन कर दिया गया है। अतः यहाँ दिशा-निर्देश मात्र ही किया जाएगा। उसका ऐश्वर्य तथा उसकी सर्वज्ञता साम्य एवं अतिशय से रहित है और वह ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव आदि सभी का गुरु तथा पिता है क्योंकि अन्तर्यामी होने के कारण तथा वेदादि के माध्यम से वह ही उन्हें ज्ञान-चक्षु प्रदान करने वाला है। उसका नाम प्रणव है (अर्थात् उसका वाचक प्रणव है) प्रणव पूर्वक उसका बार-बार चिन्तन करना साक्षात्कार में अन्त होने वाला है, वही प्रणिधान कहलाता है। अतः परमेश्वर पर संयम करना असम्प्रज्ञात पर्यन्त योग एवं मोक्ष में प्रधान साधन है क्योंकि अन्य साधनों की अपेक्षा इसके द्वारा ये दोनों अधिक जल्दी सम्पन्न हो सकते हैं। जीवात्मा पर संयम करना तो इसका गौण साधन है यह सिद्ध ही है। तथा ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा व्याधि आदि जो योग के अन्तराय बताए गए हैं, वे भी नहीं होते। इसलिए भी वह मुख्य साधन है और इसकी प्रधान साधनता स्मृतियों से भी सिद्ध है—

'अतः मुमुक्षु के लिए भगवान् विष्णु का आश्रय बड़ा सुखमय मार्ग है। मात्र चित्त से उनका चिन्तन ही करता रहे। नहीं तो निश्चय ही धोखा खायेगा।'

इस प्रकार उपाय-प्रत्यय का वर्णन कर दिया गया है।

**भवप्रत्यय**

अब भवप्रत्यय की व्याख्या की जा रही है। पहले जन्मों में की गई साधना के अनुष्ठान के परिणाम-स्वरूप विदेह तथा प्रकृतिलय नामक देवता-विशेषों को जन्मसिद्ध ज्ञान एवं वैराग्य के द्वारा, जो इच्छामात्र से ही असम्प्रज्ञात योग उत्पन्न हो जाता है, उसे ही भवप्रत्यय कहते हैं क्योंकि उस असम्प्रज्ञात योग का कारण जन्म ही है।<sup>५५</sup> जिस प्रकार हिरण्यगर्भ इत्यादि को योगनिद्रा इत्यादि (जन्म से ही



सिद्ध होती) हैं (इन विदेह तथा प्रकृतियों की व्याख्या करते हुए लिखते हैं) उनमें जो विदेह हैं वे इस सामान्य स्थूल देह की अपेक्षा के बिना ही लिङ्ग देह (सूक्ष्म शरीर) के द्वारा समस्त कार्यों को करने में समर्थ होते हैं, जिस प्रकार कि हिरण्यगर्भ इत्यादि। परन्तु जो साधक प्रकृति की उपासना के द्वारा या उसमें प्रतिबिम्बित ईश्वर की उपासना के द्वारा ब्राह्मण को भेद कर महत्तत्त्व पर्यन्त आवरण को पार कर प्रकृति के आवरण में जाकर ईश्वर की कोटि को प्राप्त कर गए हैं उन्हें प्रकृतिलय कहा जाता है।

सम्प्रज्ञात योग का तो भवप्रत्यय रूप विशेष सम्भव नहीं है। धारणा, ध्यान एवं समाधि क्योंकि सम्प्रज्ञात योग के अन्तरङ्ग हैं अतः उनके निष्पन्न होने पर उस ही जन्म में सम्प्रज्ञात योग अवश्य हो सकता है। यही कारण है कि सम्प्रज्ञात योग के भवप्रत्यय एवं उपायप्रत्यय के रूप में दो भेद सूत्रकार अथवा भाष्यकार के द्वारा नहीं किए गए हैं।

दोनों ही प्रकार का असम्प्रज्ञात योग ध्येय से रहित होने के कारण निरालम्ब कहा जाता है और इस असम्प्रज्ञात योग का अभ्यास करने पर क्रमशः समस्त संस्कारों का दाह हो जाने से उसे निर्वीज योग भी कहा जाता है।

असम्प्रज्ञात योग निरोध रूप होने पर भी अभ्यास के कारण नये-नये संस्कारों को उत्पन्न करता है; इन संस्कारों के तारतम्य के कारण ही योग की सिद्धि में दिन, पक्ष अथवा मास भी लग जाते हैं। वे निरोध के संस्कार जैसे-जैसे बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे तत्त्वज्ञान पर्यन्त समस्त वृत्तियों के संस्कारों को यह क्षीण कर देता है। इस प्रकार क्रमशः असम्प्रज्ञात की अन्तिम दशा में समस्त संस्कारों का दाह हो जाता है। उस दशा में प्रारब्ध-कर्म भी अपने फल देने में समर्थ नहीं होते क्योंकि तब उनके साथ भोग के लिए सहकारी के रूप में संस्कारों का अभाव हो जाता है।

‘उसके प्रति विद्या और कर्म उपस्थित होते हैं तथा पूर्व प्रज्ञा भी’ इत्यादि श्रुति, स्मृति और युक्ति से सिद्ध है कि जन्मादि विपाक में जो पूर्वप्रज्ञा शब्द द्वारा कहा गया पहले जन्मों के भोग के संस्कारों का विद्या और कर्म के लिए सहकारी के रूप में होना अनिवार्य है। तदनन्तर चरित-अधिकार चित्त प्रारब्ध कर्म के द्वारा निरोध संस्कारों के साथ अपने कारण में सर्वथा लीन हो जाता है और जो यह चित्त की महानिद्रा है, यह ही पुरुष का समस्त दुःखात्मक दृश्य पदार्थों से हमेशा के लिए अलग होना रूप कैवल्य है क्योंकि चित्त के द्वारा ही पुरुष का दृश्य रूप दूसरी वस्तुओं से सम्बद्ध होता है। स्मृति में भी कहा गया है—

‘मन का अभ्युदय ही आत्मा का नाश है तथा मन का नाश ही आत्मा का अभ्युदय है।’



तत्त्वज्ञान मात्र से जब मोक्ष सिद्ध होता है तब प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति के अनन्तर तत्त्वज्ञान के संस्कार भी चित्त के साथ ही नष्ट हो जाते हैं यह उसमें वैशिष्ट्य है। यह यहाँ समझना चाहिए। ज्ञान तथा योग दोनों ही व्यापार-भेद से स्वतन्त्र रूप से मोक्ष के कारण रूप में यहाँ योगशास्त्र में बताए गए हैं। गीता में भी कहा गया है—

‘सांख्य के द्वारा जो स्थान प्राप्त होता है, उस पर योग से भी पहुँचा जा सकता है जो पुरुष सांख्य एवं योग को एक रूप जानता है वही वास्तव में ज्ञाता है।’

इत्यादि के द्वारा। सांख्य से तात्पर्य विवेक के साक्षात्कार से है। योग तो चित्त की वृत्तियों का निरोध है ही। अतः जब केवल ज्ञान के द्वारा मोक्ष आविर्भूत होता है तब अभिमान को निवृत्त करने वाले आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त ही सम्प्रज्ञात की अपेक्षा की जाती है। अन्य वृत्तियों के क्षय हेतु सम्प्रज्ञात योग की परम्परा की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि प्रारब्ध की समाप्ति होने पर ज्ञान की वासना के समान अन्य वासनाओं का भी चित्त के साथ ही विनाश हो जाता है।

यह विज्ञानभिक्षु विरचित योगसारसंग्रह के योग का स्वरूप तथा उसके प्रयोजन का निरूपण रूप प्रथम अंश है।

— — —



## द्वितीय अंश

योग के स्वरूप का वर्णन कर दिया गया है। अब हम योग के साधनों का निरूपण करेंगे।

उत्तम, मध्यम एवं अधम के भेद से योग के अधिकारियों का विभाजन तीन प्रकार से किया गया है—आरुह्य, युञ्जान एवं योगारूढ।<sup>१</sup> इन (तीनों प्रकार के साधकों) के लिए सूत्र एवं भाष्य में तीन प्रकार के साधनों का वर्णन किया गया है। सूत्र के क्रम के अनुरूप मन्द एवं मध्यम अधिकारियों के साधनों का वर्णन आगे करेंगे। सूत्र के क्रम से ही उत्तम अधिकारियों के साधन सर्वप्रथम कहे गए हैं। उत्तम अधिकारी वे होते हैं जिन्होंने पूर्व जन्मों में ही बहिरङ्ग साधनों को सिद्ध कर लिया है, अतः उनकी अपेक्षा के बिना ही वे योगमार्ग पर अग्रसर हो जाते हैं; जिस प्रकार जड़भरत आदि। उनकी योग-सिद्धि में अभ्यास एवं वैराग्य ही मुख्य साधन हैं।

### अभ्यास-वैराग्य

(उत्तम अधिकारियों के लिए) आगे कहा गया है कि क्रियायोग तथा तदनन्तर वर्णित बहिरङ्ग साधन आवश्यक नहीं हैं क्योंकि 'अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा चित्त का निरोध किया जाना चाहिए' (यो० सू० १/१२) इस सूत्र द्वारा साधन सहित अभ्यास एवं वैराग्य की व्याख्या कर चुकने के पश्चात् भाष्यकार व्यास ने क्रियायोग आदि साधन सूत्रों की अवतरणिका में कहा है—एकाग्रचित्त वाले साधकों हेतु योग का उपदेश कर दिया गया है, व्युत्थित चित्त वाले साधक भी किस प्रकार योगयुक्त हो सकते हैं; इसका आरम्भ किया जा रहा है।<sup>२</sup> गरुड-पुराण में भी इसी प्रकार कहा गया है—

'आरुह्य योगियों हेतु कर्म व ज्ञान का उपदेश दिया गया है तथा जो योग रूपी वृक्ष पर आरूढ हो गए हैं उनके लिए ज्ञान व त्याग ही श्रेष्ठ बताए गए हैं।'।

जड़भरत आदि के द्वारा उक्त रूप में आचरण किया जाने से भी यह सिद्ध होता है। त्याग से तात्पर्य यहाँ योग के बाधक सभी प्रकार के कर्मों के त्याग से है।



मोक्षधर्म में भी यही कहा गया है—

‘जीव कर्म से बन्धन को प्राप्त करता है तथा ज्ञान से मुक्त होता है अतः पारदर्शी यतिजन कर्म नहीं करते ।’

अनुगीता का भी यही कथन है—

‘व्रत व कर्मों से रहित जो केवल ब्रह्म में ही स्थित है, वह ब्रह्मभूत पुरुष लोक में व्यवहार करते हुए भी ‘ब्रह्मचारी’ कहा जाता है । ब्रह्म ही उसकी समिधा है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही आसन है, ब्रह्म ही जल है और ब्रह्म ही गुरु है; इस प्रकार वह ब्रह्म में ही समाहित है ।

तथा गरुड-पुराण का भी यही मत है—

‘आसन तथा स्थान आदि विधियाँ योग को सिद्ध कराने वाली नहीं हैं, जितने भी विस्तार हैं, वे सब उसमें विलम्ब कराने वाले हैं; शिशुपाल ने तो स्मरण के अभ्यास की अधिकता से ही मोक्ष प्राप्त कर लिया था ।’

यहाँ त्याग से तात्पर्य योग में बाधक होने के कारण बाह्य कर्मों के त्याग से है न कि आन्तरिक कर्मों का त्याग क्योंकि मनु आदि स्मृतियों में भी कहा है—

‘योग-शस्त्र के ज्ञाता होने पर भी कोई पुरुष, बाह्य रूप से निश्चेष्ट रहकर इन महायज्ञों का अपनी इन्द्रियों में ही हवन करते हैं ।’

इत्यादि द्वारा कर्मत्यागी योगी के लिए भी आन्तर-यागों का विधान किया है, कारण कि आन्तर-याग, आवश्यक भिक्षाटन व स्नान आदि में विक्षेप करने वाले नहीं हैं । फल की इच्छा तथा अभिमान से शून्य होने के कारण योगियों के लिए बन्धन के कारण भी नहीं हैं ।

योग का जो उत्तम अधिकारी है तथा जिसे योगारूढ कहा जाता है उसका लक्षण गीता में इस प्रकार दिया गया है—

‘जब योगी इन्द्रियों के (शब्दादि) विषयों में तथा (नित्य, नैमित्तिक आदि) कर्मों में आसक्त नहीं होता तब जिसने (लोक, परलोक की कामना के कारण रूप) संकल्पों को त्याग दिया है, वह योगारूढ कहा जाता है ।’

(गीता ६.४)

इस योगारूढ के लिए भी संन्यासपूर्वक योग का अभ्यास करना राजमार्ग है क्योंकि ‘परिव्राजक लोग इस लोक की इच्छा करते हुए ही परिव्रजित होते हैं ।’ (बृ० ४.४) ‘वे निश्चय ही पुत्रैषण, वित्तैषण तथा लोकैषण से ऊपर उठकर भिक्षाचर्य करते हैं ।’ (बृ० ३.५), एवं ‘इस कारण ऐसा जानने वाला पुरुष शान्त,



जितेन्द्रिय, उपरत, तितिक्षु तथा समाहित होकर अपने में ही आत्मा का साक्षात्कार करे।' (बृ० ६.४) इत्यादि श्रुति एवं स्मृतियों में भी यही बात देखी गई है।

इन (अभ्यास एवं वैराग्य) में से चित्त की स्थिति के लिए किया गया यत्न ही अभ्यास है। योग के चरम अङ्ग समाधि का निश्चल एकाग्र रूप में प्रवाह ही स्थिति है।<sup>३</sup>

‘विभिन्न श्रुतियों से नाना भावों को प्राप्त हुई (अर्थात् विक्षिप्त हुई) तेरी बुद्धि जब विक्षेप से रहित होकर समाधि में रूढ़ रूप से स्थित हो जायेगी तब तू योग को प्राप्त होगा।’  
(गीता २।५३)

इस प्रकार गीता आदि के द्वारा भी सिद्ध है। ‘तस्यां स्थितौ यतः’ से तात्पर्य उसके लिए प्रयास से है—भाव यह है कि ध्येय से बाहर जाते हुए चित्त का बार-बार उसमें सन्निवेश करना ही यत्न है। गीता में भी कहा गया है—

‘स्वभाव से चंचल तथा अस्थिर मन जिन-२ (शब्दादि) विषयों की ओर जाता है, उन विषयों से रोककर इसे आत्मा में ही नियोजित करे।’

(गीता २।२६)

यह राग का अभावमात्र नहीं है क्योंकि उस अवस्था में विषयों का संसर्ग न होने पर जो उन पदार्थों में राग का अभाव होता है वहाँ भी वैराग्य मानना चाहिये। वैराग्य से तात्पर्य अलंबुद्धि से है।<sup>४</sup> यह वैराग्य पर एवं अपर के भेद से दो प्रकार का है।

इन (दोनों प्रकार के वैराग्य) में से अर्जन, रक्षण, क्षय, हिंसा आदि अनन्त दोषों को देखकर तन्निमित्तक जो लौकिक एवं पारलौकिक विषयों के प्रति अनासक्ति है, वही अपर-वैराग्य कहा जाता है। वह भी चार प्रकार का है।<sup>५</sup> यत्मानसंज्ञक, व्यतिरेक संज्ञक, एकेन्द्रिय एवं वशीकार संज्ञक। इन (विषयों) में दोष-दर्शन का अभ्यास जो कि वैराग्य का साधन है, वह यत्मानसंज्ञक वैराग्य, इसकी प्रथम भूमिका है। तदनन्तर इतनी इन्द्रियों को जीत लिया है तथा इतनी जीती जानी हैं, इस प्रकार के विभाग को निश्चित करने वाली अवस्था व्यतिरेक संज्ञक वैराग्य है। तदनन्तर बाह्येन्द्रिय-विषय रूप आदि में रागादि का नाश हो जाने पर मात्र एक मन में ही मान-अपमान आदि विषयक रागद्वेषादि का न रहना ही एकेन्द्रियसंज्ञक वैराग्य है। तदनन्तर मान एवं अपमान के विषयों का सान्निध्य रहने पर भी समस्त इन्द्रियों एवं चित्त में विक्षोभ न होना ही वशीकार-संज्ञक वैराग्य है। इन सब में संज्ञा पद का प्रयोग अभिव्यक्ति हेतु किया गया है। इसके द्वारा स्पष्टता प्राप्त होती है। इन चारों प्रकार के वैराग्यों में से वशीकारसंज्ञक वैराग्य ही योगारूढ़ (साधक) के द्वारा अनुष्ठित किया जाना चाहिए। क्योंकि पहले तीन प्रकार के वैराग्य तो युञ्जान अवस्था में ही सिद्ध हो जाते हैं।<sup>६</sup>



अपर-वैराग्य का वर्णन कर दिया गया है । अब पर कहा जाता है । आत्म एवं अनात्म पदार्थों के मध्य विवेक का साक्षात्कार कर लेने के कारण (अनात्म पदार्थों में वास्तविक) अनात्म दृष्टि होने के कारण, विवेकज्ञान के फलस्वरूप अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर, तत्त्वज्ञान पर्यन्त, समस्त दृश्य पदार्थों में पहले ही जो दोष-बुद्धि हो चुकी है उसके कारण ही, अन्य दोष-दर्शन-निरपेक्ष जो समस्त दृश्य पदार्थों के प्रति अलंबुद्धि है वही पर-वैराग्य है । इसके समुद्भूत होने पर मोक्ष आवश्यक होने से ही यह पर है ।<sup>७</sup>

अभ्यास एवं वैराग्य की व्याख्या कर दी गई है । इन दोनों में से वैराग्य के द्वारा विषयवृत्ति को कुण्ठित किया जाता है तथा ध्येय को देखने का निरन्तर अभ्यास करने के कारण जो ध्येयाकार वृत्ति का प्रवाह है उसे (अभ्यास के द्वारा) बलपूर्वक दृढ़ किया जाता है अतः चित्तवृत्तिनिरोध (अभ्यास एवं वैराग्य) दोनों के ही अधीन है ।

### परिकर्म

अब अभ्यास के अन्तरङ्ग साधन परिकर्मादि का वर्णन किया जा रहा है । परिकर्म शब्द से तात्पर्य चित्त की शुद्धि से है जो कि चित्त की स्थिति का हेतु है । (अमरकोश II, VI, १२१ के अनुसार) परिकर्म शरीर की शुद्धि है तथा (अमरकोश II, vi, ६६ के अनुसार) परिकर्म मानसिक शुद्धि है ।

इनमें से एक परिकर्म चित्तप्रसाद है । प्रसाद से तात्पर्य विषयों की कालिमा से रहित होना है । चित्त-प्रसाद में जो कारण हैं वे निम्न हैं—

सुखी व्यक्तियों के प्रति मित्रता का व्यवहार, दुःखी व्यक्तियों के प्रति करुणा का भाव, जो पुण्यशील है (उन्हें देखकर) हर्ष का अनुभव करना तथा जो पापाचरण करने वाले हैं उनके प्रति उपेक्षाबुद्धि रखना<sup>८</sup> ये तथा इसी प्रकार के राग एवं द्वेष की निवृत्ति के उपाय चित्त प्रसाद के साधन हैं । गीता में भी कहा गया है—

‘संयमी पुरुष राग-द्वेष से रहित इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए विषयों का उपभोग करने से चित्तप्रसाद को प्राप्त कर लेता है । चित्त का प्रसाद हो जाने पर समस्त दुःखों का नाश हो जाता है तथा प्रसन्नचित्त पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही स्थैर्य को प्राप्त कर लेती है ।’

(गीता २-६४, ६५)

प्राणायाम चित्त-प्रसाद का द्वितीय उपाय है ।<sup>९</sup> अन्य परिकर्म विषयवती प्रवृत्ति है । विषय गन्ध आदि तन्मात्र रूप हैं । थोड़े योग के अभ्यास के द्वारा ही विषयों का साक्षात्कार कराने वाली वृत्ति विषयवती प्रवृत्ति कहलाती है । इनमें



नासिका के अग्र-भाग पर चित्त को एकाग्र करने से स्वल्प काल में ही जो दिव्य गन्ध का साक्षात्कार होता है उसे गन्धवती प्रवृत्ति कहते हैं। इसी प्रकार जिह्वा पर धारणा करने से (दिव्य) रस का साक्षात्कार, तालु पर धारणा करने से (दिव्य) रूप का साक्षात्कार, जिह्वा के मध्य-भाग पर चित्त को एकाग्र करने से (दिव्य) स्पर्श का साक्षात्कार। जिह्वा के मूलभाग में धारणा करने से (दिव्य) शब्द का साक्षात्कार होता है। यह सब शास्त्र-प्रामाण्य से निश्चित किया जाना चाहिए।<sup>१०</sup> ये प्रवृत्तियाँ विवेकज्ञान पर्यन्त योग की भूमियों में अत्यधिक श्रद्धा उत्पन्न करने के द्वारा चित्त-स्थिति में कारण हैं।<sup>११</sup> इस कारण स्थिरता के संस्कारों द्वारा एक भी शास्त्रीय पदार्थ का साक्षात्कार हो जाने पर, श्रद्धा की वृद्धि हो जाने से, स्थैर्य संस्कारों द्वारा समस्त शास्त्रीय विषयों में चित्त का स्थिर हो जाना उचित ही है।

तृतीय परिकर्म विशोका ज्योतिष्मती है। जिसमें से शोक चला गया है, वह विशोका है। क्योंकि विशोका है, इस कारण ज्योतिष्मती नाम वाली यह प्रवृत्ति चित्त की स्थिति में हेतु होती है। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति दो प्रकार की है—बुद्धि का साक्षात्कार एवं विविक्त पुरुष का साक्षात्कार कराने वाली। उन दोनों में प्रकाश का बाहुल्य होने से, तद्विषयक प्रवृत्ति होने के कारण दोनों का ज्योतिष्मतित्व सिद्ध होता है। आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लेने के अनन्तर चित्त स्थैर्य का क्या प्रयोजन रह जाता है? क्योंकि अविद्या के निवृत्त हो जाने पर कुछ भी बाँझित नहीं रहता। यदि यह शंका की जाय तो उचित नहीं है।

आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर भी, समस्त संस्कारों को दाह करने वाली असम्प्रज्ञात समाधि को चाहने वाले के लिए पर-वैराग्य की आवश्यकता होती है और उसके लिए सम्प्रज्ञात समाधि की परम्परा अपेक्षित है। जीवात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर भी परमात्मा का साक्षात्कार करने के इच्छुक के लिए क्योंकि परमात्म-योग की अपेक्षा होती है।

चौथा परिकर्म विरक्त चित्त का चिन्तन है। जब विरक्त (पुरुष) नारद आदि के चित्त पर चित्त को एकाग्र किया जाता है तब (उस चित्त) के समान ही ध्याता का चित्त भी विरक्त होकर स्थिर स्वभाव वाला हो जाता है, जिस प्रकार कामुक के विषय में चिन्तन करने से चित्त कामुक हो जाता है।

पाँचवाँ परिकर्म स्वप्न एवं निद्रा में से एक के ज्ञान का चिन्तन करना है। जब जाग्रत काल के विषयों में स्वप्न के समान दृष्टि की जाती है तब वहाँ से विरक्त हुआ चित्त स्थिर हो जाता है क्योंकि दोनों में ही निम्न साम्य है—प्रथम वास्तविक स्वरूप को ढक लेता है तथा इनके विषय क्षणभङ्गुर हैं। इसी कारण से श्रुति



एवं स्मृतियों में जगत्-प्रपञ्च को स्वप्न के सदृश बताया गया है यथा—‘इसको एक लम्बा स्वप्न समझो’ इत्यादि । और जब जाग्रत अवस्था के पुरुषों में सुषुप्ति के समान दृष्टि की जाती है तब उनके व्यवहारों से विरक्त हुआ चित्त स्थिर हो जाता है । दोनों में प्रथम समानता यह है कि ये वास्तविक स्वरूप को ग्राह्यादित कर देते हैं तथा जिस प्रकार सुषुप्ति की अवस्था में निद्रा-दोष के कारण कभी-कभी स्वप्न देखने लगते हैं उसी प्रकार बीच-बीच में यह संसार दृष्टिगोचर हो जाता है । स्मृति में भी कहा गया है—

‘जिस प्रकार सोया हुआ पुरुष समस्त विश्व को अपने में ही देखता है किन्तु जब स्वप्नावस्था समाप्त है तब अपने को एक स्थान पर ही पड़ा हुआ मानता है इसी प्रकार जीवात्मा के जागरित आदि तीनों स्थानों को मायामात्र जानकर उनके साक्षी परमात्मा का स्मरण करे ।’ इत्यादि ।

छठा परिकर्म है यथाभिमतध्यान अर्थात् अपने अभीष्ट देव विष्णु, शिव आदि की मूर्ति का ध्यान करना । विष्णु, शिव आदि के रूप-विशेष में चित्त का राग होने के कारण उस (अभीष्ट देव) पर चित्त के एकाग्र हो जाने से विवेकख्याति पर्यन्त अन्य विषयों में भी चित्त एकाग्र होता जाता है ।

ये परिकर्म दिए गए हैं । इनमें से वे परिकर्म जिनमें चिन्तन बताया गया है वहाँ इच्छा के अनुसार विकल्प दिया गया है ।<sup>१२</sup>

अतः इस प्रकार दोनों प्रकार के योग में सामान्य रूप से साधन स्वरूप अभ्यास एवं वैराग्य का वर्णन कर दिया गया है । साथ ही अभ्यास के साधन स्वरूप परिकर्मों का भी वर्णन कर दिया गया है ।

इन (दोनों प्रकार के योग के सामान्य साधनों) में पुनः विभाग किया गया है । (१) ग्रहीता, ग्रहण एवं ग्राह्य रूप छब्बीस तत्त्वों का अभ्यास एवं वशीकार संज्ञक अपर वैराग्य जो कि सम्प्रज्ञात योग के साधन हैं । इन (दोनों) में से भी वैराग्य चित्तवृत्तिनिरोध का साक्षात् ही कारण है जबकि अभ्यास अपने अङ्ग समाधि के द्वारा कारण बनता है । परन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में तो परवैराग्य ही साक्षात्कारण है । वैराग्य रूपी ज्ञान का अभ्यास ही वैराग्य की निष्पत्ति द्वारा (विवेकख्याति) का कारण है । और परवैराग्य के निष्पन्न होने पर विवेकख्याति में भी जो कि दुःखस्वभाव वाली है, ‘अलं बुद्धि’ का उदय हो जाता है, ऐसा कहा गया है । जो सालम्बन अभ्यास है वह तो विवेकख्याति के साक्षात्कार द्वारा ही असम्प्रज्ञात योग का कारण है, न कि साक्षात् ।<sup>१३</sup>

यह उत्तम अधिकारी के योग साधनों का वर्णन किया गया है ।

**क्रियायोग**

अब युञ्जान संज्ञक मध्यम अधिकारी संन्यासी आदि हेतु योग के प्रकृष्ट



साधन क्रियायोग का निरूपण करते हैं। उसके लिए क्रियायोग ही मुख्य साधन है। अभ्यास एवं वैराग्य आदि का अनुष्ठान तो सामर्थ्य के अनुसार ही किया जा सकता है। योगसाधनों में प्रकृष्ट जो क्रियायोग है वह है—तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान। इनमें तप से तात्पर्य शास्त्रोक्त रीति से शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों का सहना है। स्वाध्याय से तात्पर्य मोक्षप्रदायक शास्त्रों का अध्ययन एवं प्रणव आदि मन्त्रों का जाप करना है। यहाँ उपदिष्ट ईश्वर-प्रणिधान से तात्पर्य परमगुरु में समस्त कर्मों को अर्पित कर देना तथा उनके फल से संन्यास अर्थात् अनासक्ति, ऐसा भाष्यकार ने स्पष्ट किया है। अर्पण शब्द का अर्थ स्मृतियों में कहा गया है। यथा—‘मनुष्य जानते हुए अथवा बिना जानते हुए अथवा बिना जाने जो कुछ भी करता है वह सब योगमाया से भगवान् ही करते हैं। मैं कर्ता नहीं हूँ, यह सब कुछ ब्रह्म के ही द्वारा किया जाता है (यह सोचना ही) तत्त्वदर्शी ऋषियों के द्वारा ब्रह्मार्पण कहा गया है।’ इत्यादि के द्वारा।

कर्मफलार्पण से तात्पर्य है यह सोचना कि कर्मों के फलों का भोक्ता परमेश्वर है। ‘ऋतं पिबन्ती’ इत्यादि श्रुतियों के द्वारा परमेश्वर का भी भोग सिद्ध होता है, ‘इनमें अन्य (परमेश्वर) भोग न करके मात्र देखता है (वृ० ३) इत्यादि श्रुति के द्वारा अभिमानपूर्वक मुख्य भोग का ही परमेश्वर में प्रतिषेध किया गया है। जो जीवों को कर्मफलों का उपभोग कराता हुआ परमेश्वर को प्रसन्न करना है, वही परमेश्वर का कर्मफल भोग है। जिस प्रकार याचक को धन देता हुआ दाता उस धन का उपभोक्ता कहलाता है। परन्तु साक्षात् रूप से कर्मों के फल स्वर्ग नरक आदि को वह ईश्वर नहीं भोगता क्योंकि उस प्रकार के उपभोग में श्रुति एवं स्मृति का विरोध प्राप्त होता है। यद्यपि ईश्वर का नित्य आनन्द का उपभोग नित्य ही है तथापि जीवों के कर्मफल प्रदान से अभिव्यक्त रूप में जो ऐश्वर्य से संयुक्त आनन्द भोग की उत्पत्ति बताई गयी है वह औपचारिक ही है जिस प्रकार सृष्टि करने की इच्छा की उत्पत्ति।<sup>१४</sup>

क्रियायोग इस पद में क्रिया के साथ जो योग पद का प्रयोग किया गया है वह इस (क्रिया विशेष) के योग का साधन होने से किया गया है अतः उसे ज्ञानयोग एवं भक्ति योग में किए गए प्रयोग की भाँति ही गौण समझना चाहिए।

योग (समाधि) की भाँति ही क्रियायोग का फल क्लेशों को क्षीण करना भी होता है जैसाकि योगसूत्र २।२ में कहा गया है ‘समाधि की सिद्धि के लिए तथा क्लेशों को क्षीण करने के लिए (क्रियायोग का अभ्यास किया जाता है)।’ यहाँ जो समाधि पद है वह अंग एवं अंगी में अभेद के कारण ही दोनों प्रकार के योग का वाचक है। वे दोनों योग (सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात) पहले ही व्याख्यात किए जा चुके हैं।



क्लेशों का तनुकरण अब उनके फल सहित बताया जा रहा है। दुःख रूपी क्लेश का कारण होने से ही इन्हें क्लेश कहा जाता है। ये पाँच हैं — अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। अनित्य, अपवित्र, दुःखदायक एवं अनात्म पदार्थों में क्रमशः नित्य, त्रिविधता, सुख एवं आत्मा का बोध होना ही अविद्या है।<sup>१४</sup> आत्मा एवं ज्ञात्मा में स्वयं एवं उनके धर्मों में अत्यन्त अभेद का भ्रम अस्मिता है।<sup>१५</sup> (अविद्या और अस्मिता में भेद दिखाते हैं) अविद्या तो भेद एवं अभेद उभय रूप है। राग<sup>१७</sup> एवं द्वेष<sup>१८</sup> तो स्पष्ट ही हैं। अभिनिवेश तो मरण आदि से भय स्वरूप है।<sup>१६</sup> इनमें उत्तरोत्तर के प्रति पूर्व का क्लेश कारण है। अतः अविद्या को सब क्लेशों का कारण होने से उत्पत्तिस्थल (क्षेत्र) कहा जाता है। अविद्या के रहने पर ही ये सब विद्यमान रहते हैं और अविद्या के नष्ट हो जाने पर उनका भी नाश हो जाता है।<sup>१२०</sup>

ये क्लेश व्याधि आदि के समान चित्त को विक्षिप्त करने का कारण होने से योग के भी विरोधी होते हैं। इन क्लेशों को तनु करने से विवेक ख्याति के बाधक तत्त्वों को क्षीण कर दिया जाता है। और वह क्रियायोग का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष फल होता है। क्रियायोग के द्वारा चित्त शुद्धि होती है। जिससे अधर्म नामक कारण की तनुता हा जाती है और उसके फलस्वरूप अविद्या आदि भी तनु हो जाते हैं। अभिमान, राग, द्वेष आदि का प्राबल्य होने से क्रियायोग सम्भव नहीं है। यदि सम्भव हो भी जाय तो वह आंशिक रूप से ही होगा। इसलिए क्रियायोग अपनी ही निष्पत्ति हेतु क्लेशों के तनुकरण को भी सम्पन्न करता है। इस प्रकार योग भी क्रियायोग का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से फल जानना चाहिए। चित्तशुद्धि (योग के प्रति) अदृष्ट कारण है तथा कर्म द्वारा चित्त को नियन्त्रित करना दृष्ट कारण।

अब उसी रूप में जैसा कि योग-सूत्र में वर्णन किया गया है क्लेशों के तनुकरण का मोक्ष पर्यन्त फल एकत्रित करके बताया जा रहा है। क्रियायोग के द्वारा क्लेशों के सूक्ष्म कर दिया जाने पर क्लेशों के द्वारा अबाधित विवेकख्याति का प्रवाह (विषय) का साक्षात्कार करने वाला होता है। तदनन्तर अविद्या आदि क्लेश प्रसंख्यान नामक विवेकसाक्षात्कार रूपी अग्नि से दग्धबीजभाव होकर पुनः अंकुरण में समर्थ नहीं होते।<sup>१२१</sup> यही जीवन्मुक्त अवस्था होती है। तदनन्तर प्रारब्ध कर्मों के समाप्त हो जाने पर चित्त के (अपने कारण प्रकृति में) लीन हो जाने पर, वे दग्धबीजभाव को प्राप्त हुए अनागत अवस्था में विद्यमान सूक्ष्मक्लेश अत्यन्त रूप से लीन हो जाते हैं। उसके निवृत्त हो जाने पर पुनः इस दुःख को नहीं भोगता यही परम मुक्ति है।<sup>१२२</sup>

जब ज्ञान के द्वारा अनागत अवस्था में विद्यमान भी क्लेशों का नाश किया



जा सकता है तो फिर किस कारण से कार्य में असमर्थता प्रदान करने वाले दाह की कल्पना की जाती है ? यदि यह शंका की जाए तो समाधानार्थ कहते हैं कार्यों की अनागत अवस्था ही कारण की शक्ति कही जाती है और उसको छोड़कर अर्थात् उसके बिना कारण नहीं रहता । यथा अग्नि आदि में दाहकता आदि शक्ति द्रव्य की सत्ता पर्यन्त रहती है । अतः ज्ञान आदि के द्वारा क्लेश, कर्म एवं संस्कार आदि की अनागत अवस्था में ही विद्यमान उत्पादक शक्ति (बीजशक्ति) का दाह किया जाता है न कि अतीत अवस्था में विद्यमान क्लेशादि का ।<sup>२३</sup> उनका नाश तो चित्त के नाश के साथ ही होता है क्योंकि धर्मा के नष्ट होने पर धर्म भी नष्ट हो जाता है ।

किस प्रकार अविद्या आदि क्लेशों से बन्धन होता है और किस प्रकार उसके निवृत्त हो जाने से मोक्ष हो जाता है; इन दोनों प्रकारों को कहा जाता है । अविद्या आदि क्लेशों से ही धर्म तथा अधर्म उत्पन्न होते हैं ।

‘जिसका मैं कर्ता हूँ ऐसा भाव नहीं है (और) जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती’ वह इन लोकों को मारकर भी न तो मारता है और न बन्धन को प्राप्त होता है ।’

(गीता १८।१७)

इत्यादि स्मृति के अनुसार । धर्म तथा अधर्म से जन्म, प्रायु एवं भोग रूपी विपाक उत्पन्न होते हैं । और उनसे सुख तथा दुःख । तदनन्तर पुरुष का वह भोग रूपी बन्धन (प्रारम्भ) हो जाता है । यहाँ पुरुष के भोग रूप बन्धन में कहा गया भोग शब्द जाति-प्रायु एवं भोग के अन्तर्गत आए भोग से भिन्न है क्योंकि दूसरे में जो भोग पद का प्रयोग है वह शब्द आदि के आकार में चित्त का परिणत होना है ।<sup>२४</sup>

शंका की जाती है कि जिस प्रकार क्लेश दुःख नामक हेतु का हेतु है, उसी प्रकार धर्म आदि भी स्वर्ग आदि सुख के हेतु हैं; तो फिर क्लेशों का ही उच्छेद क्यों बताया गया है (धर्मादि का क्यों नहीं) ।

उत्तर देते हैं कि स्वर्गादि सुख भी दुःखबहुल होने से तथा दुःख का कारण होने से विवेकी के द्वारा दुःख रूप ही माना जाना चाहिए । सांख्य सूत्रों में भी इसी प्रकार कहा गया है—‘जिस प्रकार पुरुष को दुःख से क्लेश होता है, उस प्रकार (उसे) सुख से अभिलाषा नहीं होती ।’ (६।६) ‘कहीं भी कोई भी सुखी है (अर्थात् नहीं)’ (६।७)

‘वह (सुख) भी दुःखों से युक्त है, अतः विवेकी जन (सुख को भी दुःख पक्ष में डाल देते हैं । (६।८) ’<sup>२५</sup>

वह उपरिवर्णित बन्धन का प्रकार कूर्मपुराण में भी कहा गया है—



‘राग-द्वेष आदि समस्त दोष भ्रान्ति के कारण हैं और इसी का कार्य पाप-पुण्य रूप दोष है ऐसा श्रुति कहती है तथा उन पाप-पुण्य के अधीन ही सब जीवों के सब प्रकार के शरीर उत्पन्न होते हैं ।’

क्लेशों से बन्ध की प्रक्रिया कह दी गयी है ।

अब क्लेशों के निवृत्त हो जाने से मोक्ष की प्रक्रिया कही जा रही है । आत्म तथा अनात्म (अर्थात् पुरुष एवं प्रकृति) में विवेकज्ञान का साक्षात्कार हो जाने पर अविद्या के निवृत्त हो जाने से तन्मूलक (उससे उत्पन्न होने वाले) अन्य क्लेश भी निवृत्त हो जाते हैं । तदनन्तर कारण (रूप क्लेशों) का अभाव होने से धर्म तथा अधर्म भी उत्पन्न नहीं होते । क्लेश नामक सहकारी के उच्छेद होने से वे कर्म जिन्होंने अभी फल देना प्रारम्भ नहीं किया है तथा आविर्भूत या वर्तमान कर्मों के फल को उत्पन्न नहीं करते । जिन कर्मों ने फल देना प्रारम्भ कर दिया है उनका भोग के द्वारा (अर्थात् भोग होने पर ही) नाश होता है । तदनन्तर प्रारब्ध के न रहने पर देह के नष्ट हो जाने पर कारण के विद्यमान न रहने से पुनर्जन्म नहीं होता । वही दुःखनिवृत्ति रूप मोक्ष है ।

जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में चतुर्व्यूह (चार विभाग) का प्रतिपादन किया जाता है उसी प्रकार यह सांख्य-योग भी (चतुर्व्यूह को बताने वाला) मोक्ष शास्त्र है । जिस प्रकार रोग, उसका कारण, निरोगता तथा दवा (उपचार) ये चारों भाग चिकित्सा-शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय होते हैं उसी प्रकार यहाँ भी हेय-दुःख, हेयहेतु-दुःख का कारण, हान-दुःख का नाश तथा हानोपाय-दुःख नाश के उपाय ये चार भाग प्रतिपादित किए जाते हैं । यहाँ हेय दुःख है । उस हेय का हेतु है अविद्या, हान से तात्पर्य दुःख की अत्यन्त निवृत्ति से है । उस हान का उपाय है विवेक का साक्षात्कार (अथवा सत्त्वपुरुषान्यताख्यति) साधन को संग्रहीत करने हेतु सब स्थलों पर व्यूह पद का प्रयोग आवश्यक है ।

यदि यह कहा जाए कि पुरुष तो नित्य ही दुःख रहित है किस प्रकार दुःख का नाश पुरुषार्थ कहा जा सकता है तो यह शंका अनुचित है । योग्यता रूपी स्वत्व सम्बन्ध के कारण ही दुःख का नाश सांख्य आदि के मत में पुरुषार्थ माना गया है (इसी कारण यहाँ वह पुरुषार्थ कहा गया है) । यद्यपि भोग का क्योंकि साक्षात्कार किया जा सकता है इस कारण से वह स्वरूप से नित्य है, तथापि जिस प्रकार आकाश नित्य होने पर भी घट के क्षीण हो जाने से घटाकाश नष्ट हुआ माना जाता है उसी प्रकार दुःख का भोग अनित्य होने के कारण उसकी निवृत्ति ही पुरुषार्थ के रूप में यहाँ मानी जाएगी । दुःख का भोग दुःख-प्रतिबिम्बित चित्त का स्वरूप मात्र है । यहाँ अविद्या को हेय के हेतु के रूप में कारण रूप में द्रष्टा तथा दृश्य के संयोग रूप में व्याख्यात



करके, सूत्र तथा भाष्य से इस प्रसंग के द्वारा ही द्रष्टा तथा दृश्य अर्थात् पुरुष एवं प्रकृति का स्वरूप वर्णित किया गया है। मेरे द्वारा भी योगवात्तिक तथा सांख्यप्रवचनभाष्य<sup>२६</sup> में व्याख्यात किया गया है। सांख्यसार<sup>२७</sup> नामक सांख्य के प्रकरण में हमारे द्वारा विस्तार से प्रकृति एवं पुरुष का विवेचन कर दिया गया है। अतः विस्तार के भय से यहाँ इस प्रकरण में प्रस्तुत नहीं किया गया है।

इस प्रकार मध्यम अधिकारियों के लिए योग के साधनों का वर्णन कर दिया गया है, उसमें प्रसंगवश ही क्रियायोग की क्लेशों के तनुकरण द्वारा मोक्ष के प्रति कारणता का भी वर्णन किया गया है।

अब मन्द अधिकारियों के लिए जो कि योग मार्ग पर अग्रसर होने के इच्छुक गृहस्थ आदि हैं, योग के साधनों का वर्णन किया जा रहा है। इन साधनों का वर्णन सूत्र एवं भाष्यकार द्वारा विवेकख्याति के साधन के रूप में ही किया गया है क्योंकि ये पूर्वोक्त ज्ञान के भी साधन हैं। वे साधन हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि। ये आठों ही योग के अंग कहे जाते हैं। मन्द अधिकारियों के द्वारा धारणादि के रूप में अभ्यास को (अर्थात् उत्तम अधिकारी हेतु जिसका वर्णन किया गया है उसको) तथा यम, नियम आदि समग्र क्रियायोग को क्रमशः सिद्ध किया जाना चाहिए, इस आशय से एकत्रित करके समस्त ही मन्द अधिकारियों के लिए उपदिष्ट किया गया है। इनमें सर्वप्रथम यम एवं नियम आदि के अनुष्ठान के रूप में मात्र कर्मयोग का उपदेश दिया गया है। और उत्तम, मध्यम अधिकारियों हेतु क्रमशः केवल ज्ञान एवं कर्म और ज्ञान के समुच्चय का वर्णन किया गया है। यहाँ ज्ञान तथा कर्म एवं दोनों के समुच्चय के अनुष्ठान में प्रमाण के रूप में विष्णुपुराण को उद्धृत करते हैं। यथा—

‘सनकसनन्दनादि तो मात्र ब्रह्मभाव से युक्त हैं, दूसरे स्थावर, जंगम तथा देवता आदि कर्म भावना से परिपूर्ण हैं परन्तु हिरण्यगर्भादि में तो कर्म एवं ब्रह्म दोनों प्रकार की ही भावनाएं रहती हैं।’

इनमें यम एवं नियम दोनों सूत्र एवं भाष्य के द्वारा दिखा दिए गए हैं यहाँ ईश्वरगीता के वाक्यों के द्वारा प्रदर्शित किया जा रहा है।

‘अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये संक्षेप से मनुष्यों की चित्तशुद्धि करने वाले यम कहे गए हैं। मन, वचन और कर्म द्वारा सर्वदा किसी भी प्राणी को क्लेश न पहुँचाना—इसे महर्षियों ने अहिंसा कहा है। अहिंसा से बड़ा कोई धर्म नहीं है और अहिंसा ही परम सुख है। शास्त्रविधि से की गयी हिंसा तो अहिंसा ही कही गयी है। सत्य के द्वारा सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है तथा सत्य में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। ब्राह्मणों ने यथार्थ कथन और यथार्थ प्राप्तरण



को ही सत्य कहा है। दूसरे के धन को चोरी से अथवा बलपूर्वक ले जाना ही स्तेय है और वैसा न करना ही अस्तेय रूप धर्म का साधन है। मन, वचन तथा कर्म द्वारा सर्वत्र सर्वदा सभी प्राणियों में मैथुन का त्याग ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है। तथा आपत्काल में भी इच्छानुसार द्रव्य ग्रहण न करना अपरिग्रह है। उसका प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए।

‘तप, स्वाध्याय, सन्तोष, शौच, और ईश्वर-पूजन ये संक्षेप से योगसिद्धि प्रदान करने वाले नियम कहे गए हैं। उपवास, पराक एवं कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतों द्वारा शरीर को सुखा देना—इसे तपस्वियों ने उत्तम तप कहा है। वेदान्त एवं शत-रुद्रीय आदि के पाठ तथा प्रणवादि मन्त्रों के जप को ज्ञानी, मनुष्यों के अन्तःकरण की शुद्धि करने वाला स्वाध्याय कहते हैं। स्वाध्याय के तीन भेद होते हैं—वाचिक, उपांशु और मानस। इनमें क्रमशः अगले-अगले को वेद का मर्म जानने वालों ने श्रेष्ठ कहा है। जो स्वाध्याय दूसरे सुनने वालों को स्पष्टतया शाब्दबोध कराने वाला हो वह वाचिक कहलाता है। उपांशु का लक्षण यह है कि जो दूसरों को शाब्दबोध न कराये वरन् होठों को हिलाने मात्र से किया जाए। इस प्रकार उपांशु का स्वरूप बताया गया है। वाचिक स्वाध्याय की अपेक्षा यह सहस्रगुणा श्रेष्ठ है। पद और अक्षरों की संगति के अनुसार, बिना किसी प्रकार के परिस्पन्दन के जो सभी शब्दों का मात्र चिन्तन करना है उसे मानस जप कहते हैं। पुरुष को जो दैववश प्राप्त हुए पदार्थ में ही अलंबुद्धि होना है उसे ऋषियों ने सुख रूप संतोष कहा है। ब्राह्मणों ने बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का शौच बतलाया है। मृत्तिका और जल से होने वाला बाह्य शौच माना गया है और मन की शुद्धि आन्तर शौच है। स्तुति, स्मरण और पूजा के द्वारा भगवान में मन, कर्म और शरीर द्वारा भक्ति होना—यही ईश्वरपूजन है।

यहाँ दो प्रकार की हिंसा का जो अहिंसात्व बताया गया है उनमें शौच एवं आचमन आदि क्योंकि निश्चय ही हिंसा से युक्त हैं अतः गृहस्थादियों के द्वारा निश्चय ही हिंसा की जाती है। भाष्यकार के द्वारा महाव्रत के रूप में यश आदि में होने वाली हिंसा का भी त्याग बताया गया है। भाष्यकार द्वारा जो सर्वकर्मों का अप्रण रूप ईश्वर-प्रणिधान कहा गया है वह ईश्वरगीता में वर्णित पूजन आदि का भी उपलक्षक है।

इन दोनों यम एवं नियमों के बीच में प्रवृत्त होते हुए यम जब देश, काल आदि से अपरिच्छिन्न होते हैं तब ही इनकी महाव्रत संज्ञा होती है ऐसा सूत्रकार के द्वारा कहा गया है। नियमों का स्वभाव प्रवृत्त्यात्मक होने के कारण देशकाल आदि से परिच्छिन्न है। अतः महाव्रतत्व के रूप में अवान्तरभेद नहीं हो सकता। इस प्रकार यम एवं नियमों की व्याख्या कर दी गई है।



आसन<sup>२८</sup> की व्याख्या की जाती है। उनमें जितनी भी जीवों की जातियाँ हैं, उनके बैठने के जो आकार विशेष हैं वे सब ही आसन होते हैं। उनमें से मुख्य रूप से तीन आसन ईश्वरगीता आदि में भी कहे गए हैं। यथा—

‘स्वस्तिक, पद्म और अर्ध जो आसन कहे गए हैं वे सभी आसनों में श्रेष्ठ हैं विप्रश्रेष्ठ ! साधक को अपने दोनों पैर, दोनों जंघाओं पर रखकर बैठना चाहिए। यह उत्तम पद्मासन है। हे सत्तम ! जब अपना एक पैर एक जंघा पर रखकर बैठे तब यह योग का उत्तम साधन अर्धासन होता है। और जब दोनों पैरों के तलुओं को दोनों जाँघों में दबाकर बैठे तब यह श्रेष्ठ स्वस्तिक आसन होता है।’

यह (पुस्तक) राजयोग का प्रकरण होने के कारण यहाँ आसनों की विस्तृत व्याख्या नहीं की जा रही। नाड़ी का शोधन आदि विभिन्न आसनों का सम्पूर्ण अध्ययन हठयोग की पुस्तकों में करना चाहिए।

इस प्रकार आसनों की व्याख्या कर दी गई है।

अब प्राणायाम की व्याख्या की जाती है। रेचक, पूरक एवं कुम्भक तीन प्रकार के प्राणायाम होते हैं। केवल कुम्भक नामक चतुर्थ प्राणायाम होता है। नारदीय में भी कहा गया है—

‘रेचक, पूरक, कुम्भक और शून्य इस तरह चार प्रकार का प्राणायाम बुद्धिमानों ने बताया है। जीवों की जो दायाँ नाड़ी है वह पिगला कही जाती है। वह सूर्य देवता वाली और पितृयोनि भी मानी गई है। इड़ा नाम की जो बायीं नाड़ी है वह देवयोनि कही गई है। सुनिए, मैं बताता हूँ, उनका अधिदेव चन्द्रमा है। इन दोनों के बीच में सुषुम्ना नाड़ी मानी गयी है। उसे अतिसूक्ष्म और गुह्यतम समझना चाहिए। उसका देवता ब्रह्मा है। बायीं नाड़ी से वायु को निकाल देना चाहिए। इसे रेचन के कारण रेचक प्राणायाम कहते हैं। फिर दायाँ नाड़ी से वायु भरे। पूरक (भरने) के कारण यह क्रिया ‘पूरक’ कहलाती है। इस प्रकार अपने शरीर में भरे हुये उस वायु को रोककर जब योगी उसे नहीं छोड़ता और भरे हुए घड़े के समान स्थिर रहता है तो इसे ‘कुम्भक’ कहते हैं। फिर जब वह शरीर से बाहर एवं भीतर स्थित वायु को न तो ग्रहण करता है और न त्यागता है तो इस यथास्थित प्राणायाम को ‘शून्य’ समझना चाहिए।’

याज्ञवल्क्य में भी—

‘पूरक, कुम्भक और उसके पश्चात् रेचक इस क्रम से कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम तीन प्रकार का प्राणायाम समझना चाहिए। प्राणायाम के ज्ञाताओं ने इनकी मात्राओं के भेद इस प्रकार किये हैं—कनिष्ठ प्राणायाम बारह मात्राओं का और उत्तम छत्तीस मात्राओं का होता है।



ऐसा कहा गया है। यहाँ प्राणायाम का पूरक आदि के क्रम से कथन करने के कारण नारद आदि में कहा गया रेचक आदि क्रम वैकल्पिक है (ऐसा मानना चाहिए)।

इस चौथे प्रकार के प्राणायाम में सूत्रकार के द्वारा यह विशेष रूप से कहा गया है। प्रारम्भ में जो एक साथ ही तीनों का अभ्यास करता है, वह देश, काल एवं संख्या के द्वारा किया जाता है, तब उसकी दीर्घ अथवा सूक्ष्म संज्ञा होती है। इनमें से रेचक का स्थान नासिकाग्र से बारह अंगुलिपर्यन्त होता है और उसका निश्चय ईपिका तूल के द्वारा किया जाना चाहिए। पूरक का, मस्तक से लेकर पैरों के तलवे तक आभ्यन्तर स्थान (देश) होता है। और उसका निश्चय चीटियों के स्पर्श के समान (अन्तर में होने वाले) स्पर्श से करना चाहिए। और कुम्भक, रेचक एवं पूरक के जो बाह्य एवं आभ्यन्तर देश हैं उनका समुच्चय ही विषय होता है। अतः दोनों और ही प्राण की वृत्ति का निरोध किया जाना चाहिए। और उसका निश्चय दोनों (उपरोक्त) चिह्नों के द्वारा किया जाना चाहिए। इस प्रकार देश के द्वारा निश्चित (प्राणायाम) की व्याख्या कर दी गई है। काल के द्वारा निश्चित यथा— 'इतने क्षण पर्यन्त रेचक किया जाना चाहिए' 'इतने क्षण पर्यन्त पूरक किया जाना चाहिए' और इतने क्षण पर्यन्त कुम्भक किया जाना चाहिए; इस प्रकार स्वीकारकर, काल के द्वारा निश्चित माना जाता है। संख्या के द्वारा निश्चित यथा— बारह मात्रा आदि के द्वारा तीन गुना जानना चाहिए। यहाँ देश आदि तीनों की प्राणायामों के भिन्न होने में वैकल्पिकता है, अतः उनका समुच्चय नहीं जानना चाहिए, मात्र मात्रा के द्वारा भी प्राणायाम का विभाजन प्रायः देखा जाता है। इस प्रकार अभ्यास के क्रम से जब देश, काल और संख्या के द्वारा विभाजित रेचक एवं पूरक बिना ही मास तथा वर्ष आदि की गणना किए बहुत देश पर्यन्त स्थायी होता है तब कुम्भक होता है वह केवल कुम्भक नामक चतुर्थ प्राणायाम है। उसमें रहने पर आकाश-गमन आदि सिद्धियों की प्राप्ति होती है। वसिष्ठ संहिता में इस प्रकार कहा गया है—

'रेचक और पूरक को त्याग कर जो सुखपूर्वक वायु को धारण करता है वही केवल कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है। नित्य ही सहित अथवा केवल कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए। जब तक केवल कुम्भक सिद्ध न हो तब तक सहित कुम्भक का अभ्यास करे। रेचक और पूरक से रहित जो केवल कुम्भक है उसके सिद्ध हो जाने पर उस (योगी) को तीनों लोकों में कृच्छ्र भी दुर्लभ नहीं रहता, इत्यादि के द्वारा। प्राणायाम में मात्राओं के विषय में मार्कण्डेय-पुराण में कहा गया है— ब्राह्मणों के मूँदने और खोलने में, हाथों से ताली बजाने में और एक लघु अक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है उसे मात्रा कहते हैं। प्राणायाम की गणना करने के लिए ऐसी द्वादश मात्राएं स्मृतियों में बतायी गई हैं, इत्यादि के द्वारा।



मात्रा का अर्थ है प्रमाण । द्वादश मात्रिका से तात्पर्य बारह गुने से है । और यह द्वादश मात्रा तीनों में ही सामान्य रूप से कहनी चाहिये । वसिष्ठ संहिता आदि में तो पूरक को सोलह मात्राओं वाला और कुम्भक को चौसठ मात्राओं वाला, और रेचक को बत्तीस मात्राओं वाला कहा गया है । अतः मुख्यकल्प तथा अनुकल्प के रूप में यहाँ व्यवस्था की गयी है ।

प्राणायाम के विषय में नारदीय आदि में कहा गया है—

अगर्भ एवं सगर्भ के भेद से प्राणायाम दो प्रकार का होता है ।<sup>२६</sup> इनमें दूसरा श्रेष्ठ है । जप एवं ध्यान से रहित प्राणायाम 'अगर्भ' कहलाता है और इनसे युक्त सगर्भ कहा जाता है, इत्यादि के द्वारा ।

इसमें किया जाने वाला जपमन्त्र ईश्वरगीता में कहा गया है—

‘प्राणों का संयमन करके व्याहृति, प्रणव और शिरोमन्त्र के सहित गायत्री का तीन बार जाप करे । यह ही प्राणायाम कहा जाता है ।’  
योगियाज्ञवल्क्य ने कहा है—

‘प्राण और अपान का निरोध करके मात्राओं के प्रमाणानुसार ओंकार का जाप करते हुए विधिवत् प्राणायाम करना चाहिए ।’

यह केवल प्रणव का जाप परम हंसों के लिये होता है । और ध्यान-पूरक आदि के क्रम से नाभि तथा हृदयललाट आदि में ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूपों का स्मरण स्मृतियों में कहा गया है । परमहंसों का तो मात्र ब्रह्म ही ध्येय होता है ऐसा कहा गया है—प्रणव के द्वारा परब्रह्म का यति ध्यान करे, इत्यादि स्मृतियों के द्वारा सिद्ध है । इस प्रकार प्राणायाम की व्याख्या कर दी गई है ।

प्रत्याहार का वर्णन किया जाता है । नारदीय में कहा गया है—

‘हे मुनीश्वर ! योगी जो विषयों में आसक्त इन्द्रियों को सब ओर से हटा कर उनका निग्रह करता है वह प्रत्याहार कहलाता है । जो पुरुष इन्द्रियों को वश में किए बिना ही ध्यान में लग जाता है उसे मूढचित्त ही समझना चाहिए । उसे ध्यान भी सिद्ध नहीं हो सकता ।’

इस प्रकार इन्द्रियों के निग्रहण का अर्थ उन्हें वश में करना अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार उनसे कार्य लेना है । इस प्रकार प्रत्याहार का वर्णन कर दिया गया है ।

यम आदि से लेकर प्रत्याहार पर्यन्त योग के जिन (पाँच) अंगों का उपदेश दिया गया है वे शरीर, प्राण एवं इन्द्रियों (तीनों) को वश में करने वाले हैं । इसके पश्चात् चित्त को वश में करने वाले और धारणा से प्रारम्भ होने वाले तीनों अंगों का वर्णन किया जाएगा ।



इन तीनों में से धारणा का वर्णन किया जा रहा है। यो० सू० ३/१ में कहा गया है—‘देशबन्धश्चित्तस्य धारणा’ अर्थात् देश विशेष में चित्त को लगाना धारणा है। जिस देश (स्थान विशेष) में ध्येय का चिन्तन किया जाता है वहाँ चित्त का स्थिर होना ही धारणा है।

देश ईश्वरगीता में निम्न कहे गए हैं—

‘हृदयकमल, नाभि, मूर्धा अथवा पर्वतशिखर इत्यादि देशों में चित्त को बांध देना धारणा है।’

शंका होती है कि मूर्ति आदि में तो देशता घटित होती है परन्तु सत्त्व-पुरुषान्यताख्याति अथवा ब्रह्म जो कि (देश काल से) अपरिच्छिन्न हैं उनमें यह देश विशेष मानना कैसे सम्भव है।

जिस प्रकार ईन्धन के रहने पर अग्नि की सत्ता मानी जाती है उसी प्रकार इनकी उपाधि के रहने से ही इन दोनों (प्रकृति एवं पुरुष) की देशता सम्भव है।<sup>३०</sup>

जितने समय तक चित्त की स्थिरता से धारणा आदि तीनों होते हैं, वह काल ईश्वरगीता में निश्चित किया गया है—

‘बारह प्राणायाम की धारणा होती है, बारह धारणाओं का एक ध्यान, बारह ध्यान की समाधि कही जाती है।’

बारह प्राणायाम करने में जितना समय लगता है उतने समय तक चित्त की उपरिर्वाणित एकाग्रता ही धारणा कही जाती है। धारणा का वर्णन कर दिया गया है।

ध्यान का वर्णन किया जा रहा है। उस देश-विशेष में व्यवधान से रहित जो ध्येयाकारवृत्ति का प्रवाह है वह ध्यान कहा जाता है। यथा हृदय-कमल आदि में चतुर्भुज भगवान् विष्णु का चिन्तन अथवा बुद्धि-वृत्ति में उससे व्यतिरिक्त चैतन्य का चिन्तन, और कारण रूप उपाधि में ईश्वर का चिन्तन। ईश्वरगीता में भी इसी रूप में कहा गया है—

‘देशसम्बन्धिनी स्थिति का आश्रय लेकर जो अन्य वृत्तियों से असंस्पृष्ट बुद्धि की वृत्तियों का प्रवाह है उसी को विद्वान् लोग ध्यान समझते हैं।’

ध्यान का वर्णन हो चुका है।

समाधि का वर्णन किया जा रहा है। वह ही ध्यान जब ध्येय के अत्यधिक चिन्तन से ध्यान, ध्येय एवं ध्यातृ भाव की दृष्टि से रहित होकर ध्येयमात्र के आकार वाला होता है तब समाधि कही जाती है। काल के नियम को तो पहले ही बता दिया गया है। ध्यान से इसका एक अन्य वैशिष्ट्य भी है। (वह यह कि) अत्यन्त आकर्षक विषयों के सान्निध्य से ध्यान का भंग हो जाता है जबकि समाधि की अवस्था में ऐसा नहीं होता। स्मृति में भी ऐसा ही कहा गया है।



‘तब’ इस प्रकार आत्मा में चित्त के निरुद्ध हो जाने पर योगी किसी भी बाह्य अथवा आभ्यन्तर पदार्थ को नहीं जानता। जिस प्रकार कि तीर बनाने वाले ने तीर में चित्त लगा रहने के कारण पास होकर जाते हुए राजा को नहीं देखा।’

यहाँ समाधि के लक्षण में जो अन्य वृत्तियों का निरोध कहा गया है वह इसका विशेष लक्षण नहीं जानना चाहिए क्योंकि निरोध तो स्वयं अंगी है, वरन् इसे उपलक्षण ही जानना चाहिए। इस समय होने वाले वृत्ति-निरोध से ही ध्येय का साक्षात्कार उत्पन्न होता है, अतः यह समाधि सम्प्रज्ञात योग का चरम अंग होती है।

शंका की जाती है कि यदि समाधिकालीन अन्य वृत्तियों का निरोध ही सम्प्रज्ञात योग होता है तो फिर निरोध के अंगी होने में क्या नियामक है।

यह पहले ही कह दिया गया है अब उसका पुनः स्मरण कराया जा रहा है। चित्त विभु होने के कारण तथा प्रकाश स्वभाव वाला होने से स्वयं ही दर्पण की भाँति सब कुछ ग्रहण करने में समर्थ है। तो भी अन्य विषयों से आकृष्ट होने के कारण, अभीष्ट विषय का चिन्तन किए जाने पर भी उसका साक्षात् करने में समर्थ नहीं होता। इसीलिए अन्य विषयक वृत्तियों का निरोध ही प्रतिबन्धक (बाधा) के अभाव रूप होने से ध्येय के साक्षात्कार में साक्षात्कारण होता है। यहाँ समाधि भी अंग ही है क्योंकि वह साक्षात्कार में अन्य वृत्तियों के निरोध करने के कारण ही यहाँ कारण-रूप में मानी गई है।

यह इस रूप में धारणा आदि तीनों की व्याख्या कर दी गई है। जब ये तीनों (धारणा, ध्यान एवं समाधि) एक ही आलम्बन में होती हैं तब इन्हें संयम कहा जाता है। तस्य भूमिषु विनियोगः—इस (यो० सू० ३।६) योगसूत्र के अनुसार उस संयम का स्थूल आदि के क्रम से विविक्त परमात्म पर्यन्त भूमियों में विनियोग किया जाना चाहिए। स्मृति में भी कहा गया है—

‘स्थूल विषय में जीते गए चित्त को तदुपरान्त धीरे-धीरे सूक्ष्म विषय पर ले जाये।’

यह तो सामान्य नियम है जैसाकि पहले भी कहा गया है। जब ईश्वर की कृपा से अथवा सद्गुरु की अनुकम्पा से प्रारम्भ में ही सूक्ष्म विषयों में चित्त को एकाग्र करने की योग्यता दृष्टिगत हो तो स्थूल आदि पूर्व की भूमियों में मुमुक्षु को समय नष्ट नहीं करना चाहिये, क्योंकि उस अवस्था में उत्तर की भूमिका पर आरुढ़ होने के लिए साधन स्वरूप जो पूर्व की भू का है उसे पहले ही सिद्ध हुआ जानना चाहिए। स्मृति में भी इसी प्रकार कहा है। ‘अपने प्रयोजन को सिद्ध करने वाले एक ही सारभूत ज्ञान का आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि यह जो



ज्ञानों की अनेकता है, वह निश्चय ही योग में विघ्न उत्पन्न करने वाली है। जो व्यक्ति यह मेरे लिये जानने योग्य है, इस प्रकार सोचते हुये प्यासे की भाँति विचरण करता है, वह हजारों कल्पों में भी अपने वास्तविक ज्ञेय को प्राप्त नहीं कर सकता।

अतः यहाँ हमारे द्वारा सर्वोत्कृष्ट अधिकारियों के लिये संयम का आलम्बन स्वरूप परमात्मा ही बताया गया है। सत्त्वपुरुषान्यताख्याति रूप आलम्बन का जो वर्णन यहाँ किया जायेगा वह इसका सहायक ही जानना चाहिये। यहाँ पर जो परमात्मा में संयम का प्रकार बताया गया है उसका स्वरूप नारदीय हरिभक्ति-सुधोदय में वर्णित प्रकार के समान ही है। यथा—  
नारद जी बोले !

‘हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं चिदेकरस परमात्मा के ज्ञान के लिये सब प्रकार के विस्तार को त्यागकर राजयोग का वर्णन करता हूँ, आप उसे सुनें। मुमुक्षु को वेदान्त (उपनिषद्), सत्पुरुषों के संग और सद्गुरु के द्वारा एवं स्वयं भी यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि आत्मा प्रकृति से भिन्न है। इस प्रकार आत्मा को भली-भाँति जानकर सब प्रकार के संग को त्याग दे। जो अद्वैत-तत्त्व की अनुभूति के लिये प्रयत्नशील हैं उनके लिए अन्य संग तो स्पष्टतः शत्रु ही हैं। मुमुक्षु को चाहिये कि वह एकान्त में सुखपूर्वक आसन में बैठकर धैर्य, पवित्रता, दक्षता एवं सावधानी पूर्वक उपनिषद् प्रतिपादित माया से रहित परमात्मा के दर्शन हेतु प्रयत्न करे। योगी को चाहिये कि बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली इन्द्रियों को उनका सब ओर से मार्ग रोककर भीतर की ओर ले जाये जिस प्रकार कि अर्जुन ने छोड़े हुये बाणों को भी रोक लिया था। सेना को लौटाकर ले जाने वाला राजा जैसे अपने अन्तःपुर में प्रवेश करता है वैसे ही इन्द्रियों को अपने-अपने स्थानों में स्थित कर धीरे-धीरे मन को भीतर की ओर ले जाये। मन के भीतर स्थित हो जाने पर इन्द्रियाँ भी चंचल नहीं रहतीं, जिस प्रकार प्रेरक वायु के शान्त हो जाने पर बादल भी गतिशून्य हो जाते हैं। फिर शरीर, अहंकार और बुद्धि से भिन्न एवं उनके प्रेरक अपनी आत्मा में मन को स्थापित करे। जो व्यर्थ ही अपने कर्तृत्व, भोक्तृत्व का अभिमान करता था ऐसे, अब स्वच्छ (अभिमानरहित) आत्मा को सर्वात्मा चिदानन्दधन भगवान् विष्णु में सम्यक् प्रकार से स्थित करे। जिस प्रकार ओला जल में और दीपक अग्नि में मिलकर तद्रूप हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानवश अपने को पृथक् समझने वाला जीव तत्त्वज्ञान से युक्त होने पर ब्रह्म में लीन हो जाता है। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! यह जीव और परमात्मा का योग ही योग कहलाता है। यही सम्पूर्ण उपनिषदों का तात्पर्य है, मुनियों द्वारा गोपनीय है और श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है। इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर सभी को विश्वात्मा में लीन करके पर



ब्रह्म से अभिन्न हो निरन्तर चिदानन्दरूप से स्थित रहे। इस प्रकार क्रमशः इस कठिनांशरूप जगत् को लीनकर फिर वह आत्मज्ञ योगी विस्तृत निविशेष (सूक्ष्म या कारण) जगत् का भी लय कर दे। इस प्रकार लगातार युक्तचित्त रहने वाला वह मुनि क्रमशः विष्णुमय ही हो जाता है (न कि एकदम) जिस प्रकार कि नमक का पहाड़ एक क्षण में जलरूप नहीं हो सकता। वह व्युत्थान काल में भी समस्त जगत् में 'यह विष्णु ही है' इस प्रकार की भावना करे तथा ममत्व एवं अहंकार से रहित होकर संसार बन्धन को शिथिल रखते हुए व्यवहार करे। हे द्विजगण ! इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने से जिसकी बुद्धि परमात्मा में लीन हो गई है, ऐसे उस तत्त्वदर्शी के बुद्धिपूर्वक कर्म स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं। वह लौकिक या वैदिक किसी भी प्रकार के कर्म नहीं करता। उसके सब कर्म केवल पूर्वभ्यास के कारण ही होते हैं। वह पाप और पुण्य से रहित सर्वात्मा, 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। वह सर्वगत है, अतः देहपात होने पर उसका पुनर्जन्म नहीं होता। इस प्रकार अद्वैतबोध के द्वारा मैंने तुम्हें मोक्षप्राप्ति का क्रम बतलाया।

इन वाक्यांशों में से कठिनतम अंशों की यहाँ व्याख्या की जा रही है। प्रारम्भ में साधक को आत्मा तथा अनात्मा के सामान्य स्वरूप को निश्चित करना होता है यथा विकारयुक्त प्रकृति से अलग करके निश्चित करना तथा इस प्रकार से उक्त साधनों से आत्मा को भली-भाँति जानकर तथा श्रवण एवं मनन के द्वारा निश्चित करके (अर्थात् तद्विषयक अपनी निश्चित धारणा बनाकर) आसक्ति का पूर्ण त्याग कर दे, योग के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करने हेतु उसे चाहिये कि वह परमहंस आश्रम वाला (अर्थात् पूर्ण त्यक्त योगी) हो जाये। अद्वैत की सिद्धि के द्वारा भी साक्षात्कार अथवा कैवल्य की निष्पत्ति सम्भव है। संन्यास के पश्चात् क्या किया जाना चाहिये उसे—'एकान्त इति ?' के द्वारा कहते हैं। जैसा उपनिषदों में वर्णित है वैसा उससे जानकर माया से भिन्न अर्थात् प्रकृति से रहित। अथवा नाया शब्द द्वारा यहाँ जीवात्मा भी अपेक्षित हो सकता है। क्योंकि विवेकख्याति के द्वारा परमात्मा को ही जानना लक्ष्य है और जीवात्मा उस पर आवश्यक है अतः जीवात्मा में भी (आवश्यक होने के कारण) माया शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। 'परागित्यादि' के प्रयत्न का प्रकार कहा गया है। पराक् से तात्पर्य बाह्य से है। और प्रत्यक् से आन्तरिक। उस (पराक्) का मार्ग ही बहिर्मुख है। इस श्लोक के द्वारा प्रत्याहार ही बताया गया है। यम आदि प्राणायाम पर्यन्त साधन बहिर्मुख होने के कारण आवश्यक न होने से यहाँ नहीं कहे गये हैं। अथवा 'एकान्ते स्वासनो धीरः' इत्यादि वाक्यों के द्वारा ही संक्षेप से यम आदि चारों अङ्गों को कह दिया गया है ऐसा जानना चाहिये। प्रत्याहार का वर्णन कर चुकने के उपरान्त संयम के प्रकार को—'ततो वपु' इत्यादि दो श्लोकों के द्वारा कहते हैं। यहाँ प्रथम श्लोक के द्वारा अन्तर्यामी परमात्मा के निवास स्थान



जीवात्मा में चित्त को स्थित करना रूप धारणा का वर्णन किया गया है। 'मुधा' इत्यादि श्लोक के द्वारा ध्यान एवं समाधि संक्षेप में कहे गये हैं। उसका भाव है कि उस जीवात्मा को मुधा अर्थात् व्यथं ही जो कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व आदि के अभिमान से युक्त है परन्तु स्वतन्त्र होने के कारण तथा उपाधि से रहित होने पर शुद्ध ही है अतः इस प्रकार वर्णित समस्त जीवात्माओं को जो देह से लेकर जीव पर्यन्त हैं आत्मा अर्थात् परमात्मा में लगाये या मिल जाये। भाव यह है कि समस्त जीवों का लय स्थान जो परमात्मा है उसका चिन्तन करे। उस (परमात्मा) का ज्ञेयत्व सिद्ध करने हेतु प्रलय की ही तात्त्विकता को उदाहरण — 'सलिल इति' के द्वारा स्पष्ट करते हैं। जीव को जो लोग परमात्मा से पृथक् कहते हैं वह मोहवश ही ऐसा करते हैं; वास्तव में तो विभाग यहाँ नैमित्तिक (किसी कारण वश) होने से थोड़े समय तक ही रहने वाला है अतः जिस प्रकार किसी पदार्थ से आविर्भूत विकारों को उससे भिन्न बताना मात्र शब्द प्रयोग ही होता है (क्योंकि वह मात्र रूपान्तर है, वास्तविक अन्तर उसमें नहीं है।) वास्तव में तो जीव योग नामक साधनों से युक्त होने पर, जिस प्रकार बुलबुला पानी में लीन हो जाता है उसी प्रकार यह ब्रह्म में लीन हो जाता है क्योंकि यह जीव उससे युक्त ही है अथवा उसका कार्य है ऐसा जानना चाहिये। शेष स्पष्ट ही है।

इस प्रकार आठों योग के अङ्ग कह दिये गये हैं। इन आठों अङ्गों के मध्य यह विशेष सूत्रकार के द्वारा कहा गया है—कि प्रत्याहार पर्यन्त पाँच अंगों की अपेक्षा धारणा आदि तीन 'अंग' सम्प्रज्ञात योग के प्रति अन्तरंग साधन होते हैं। प्रथम पाँच अंग तो प्रायः देह, प्राण एवं इन्द्रियों को शुद्ध करते हैं जबकि धारणा आदि तीन साधन योग के आश्रयभूत चित्त को संस्कृत करते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी जानना चाहिये कि इन प्रथम पाँच अंगों का पूर्वजन्मों में सम्पादन हो चुकने पर वर्तमान में कभी-कभी इनका अभाव रहने पर भी योग की सिद्धि हो जाती है परन्तु धारणा आदि तीनों का अंग के रूप में सहभाव होने से उनके बिना योग होता ही नहीं।

यही कारण है कि धारणा आदि इन तीन के बिना सम्पन्न होने वाली असम्प्रज्ञात समाधि को निरालम्बन कहा जाता है। भवप्रत्ययों के उत्पन्न होते ही ज्ञान एवं वैराग्य से युक्त होने के कारण असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ बताया गया है। उसका कारण भी पूर्वजन्मों में उन देवविशेषों के द्वारा धारणा आदि को सिद्ध कर लेना है।

यह विज्ञानभिक्षुविरचित योगसारसंग्रह के योगसाधनों का निरूपण रूप द्वितीय अंश है।



## तृतीय अंश

अब संयम से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ बतायी जायेंगी। सिद्धि के इच्छुक साधकों के लिए ज्ञानादि की प्रतिबन्धक इच्छाओं को शान्त करने हेतु तथा किस-किस विषय पर संयम करने से किस-किस सिद्धि की प्राप्ति होती है यह निश्चित करने के लिए तथा मुमुक्षुओं के लिए ये त्याज्य हैं—यह प्रतिपादित करने के लिए भी इनका वर्णन किया जा रहा है।<sup>१</sup> सर्वसिद्धान्ताभिमत यह सूत्र भी है—‘उन सिद्धियों के प्रति वैराग्य होने पर समस्त दोषों के बीज का क्षय हो जाने के कारण कैवल्य प्राप्त होता है।’

विषयों के भेद से अर्थात् विभिन्न विषयों पर संयम करने से विभिन्न सिद्धियों की प्राप्ति होती है क्योंकि विषय अनन्त हैं, अतः सिद्धियाँ भी अनन्त ही होती हैं। उनमें से सूत्र एवं भाष्य में कुछ का ही वर्णन किया गया है और हमारे द्वारा तो ग्रन्थ विस्तार के डर से उनमें से भी सार के रूप में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धियों का वर्णन ही यहाँ किया जा रहा है। संयम के विषयों का साक्षात् कराने वाली सिद्धियों का सामान्य रूप से उल्लेख हमें निम्न सूत्र में मिलता है—‘समस्त वृत्तियों से रहित स्वच्छ स्फटिक मणि के सदृश बुद्धि के ग्रहीता, ग्रहण एवं ग्राह्य के स्वरूपाकाराकारित होने पर जो पौरुषेयबोध होता है वही समापत्ति है (यो० सू० १.४१)।’ तथा सूर्य पर संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान होता है (यो० सू० ३.२६) इत्यादि सूत्रों में अन्य विषयों पर संयम करने से प्राप्त सिद्धि के रूप में अन्य के ज्ञान आदि का कथन होने से।<sup>२</sup> यहाँ जो संयम के द्वारा अन्य विषयों का ज्ञान रूप सिद्धि बतायी गयी है उसकी चरम परिणति विषय का साक्षात्कार कराना ही है। अन्य विषय पर संयम करने से अन्य पदार्थ-विशेष के ज्ञान की प्राप्ति आदि योगज धर्म के द्वारा ही होती है, जिस प्रकार कि यज्ञविशेष के सम्पादन से स्वर्ग विशेष की प्राप्ति होती है।<sup>३</sup>

इन विषयों में से जिस पर संयम करने से आत्मसाक्षात्काररूपा सिद्धि होती है उन दोनों को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण सर्वप्रथम कहा जा रहा है। इस विषय में सूत्र भी है—

‘प्रकृति एवं पुरुष जो सर्वथा असंकीर्ण है उनका अभेद ज्ञान ही भोग का कारण है। (प्रकृति के) परार्थ होने के कारण (उससे भिन्न) स्वार्थ में संयम करने से पुरुष का ज्ञान हो जाता है। (यो० सू० ३.३५)।’



इस सूत्र में भोग पद का लक्षण देने का प्रयोजन यह बताना है कि भोग काल में साधक को चाहिए कि वह पुरुष को बुद्धि से विविक्त जानकर उसमें ही संयम करे। सूत्र का भाव यह है—सत्त्व जो उपाधि है वह कारण एवं कार्य दोनों में समान रूप से घटित होती है। पुरुष उस सत्त्व से बने हुए संसार का साक्षी है, यह पुरुष पद जीव<sup>४</sup> एवं ईश्वर दोनों में सामान्य रूप से प्रयुक्त होता है। उन दोनों अत्यन्त भिन्न अन्धकार एवं प्रकाश की भाँति अत्यन्त विरुद्ध धर्मों वाले होने पर भी जो परस्पर प्रतिबिम्ब के कारण दोनों में एकत्व प्रतीति के कारण या दोनों में भेद न कर सकने के कारण जो एकत्व का भ्रम होता है उसके कारण, शब्दादि ही ज्ञान है इस प्रकार तप्तलोहपिण्ड की भाँति जो एकवृत्तित्व है वही मुख्य भोग है।<sup>५</sup> भाष्य में भी कहा गया है—‘इष्ट तथा अनिष्ट और अविभक्त गुणों के स्वरूप का निश्चय ही भोग है।’ ‘उन प्रत्ययों में जो शब्दाद्याकारक उपाधि रूप सत्त्व का बोध है वह परस्पर मिलकर प्रवृत्त होने के कारण परार्थ है। उससे अलग करके स्वार्थ अर्थात् ज्ञानस्वरूप पुरुष के प्रत्यय में उन दोनों के विवेकसाक्षात्कारपर्यन्त संयम करने से पुरुष का ज्ञान अर्थात् कूटस्थ, विभु, नित्य, शुद्ध, मुक्त आदि रूप से आत्मा का साक्षात्कार होता है। भाव यह है कि समस्त जगत् से पुरुष की भिन्नता का अनुभव हो जाता है। यहाँ परार्थत्व और स्वार्थत्व का प्रकृति और पुरुष के प्रत्ययों के पार्थक्य के हेतु के रूप में वर्णन किया गया है। इनमें परमात्र में भोग एवं मोक्ष की साधनता परार्थता है और अपने ही भोग एवं मोक्ष की साधनता में स्वार्थता है।<sup>६</sup> यहाँ विषयों का अनुभव ही मोक्ष समझना चाहिए। पौरुषेय बोध तो पुरुष का स्वरूप ही है, अतः उसके साक्षात्कार पर्यन्त संयम का फल पुरुष का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है क्योंकि वह तो पहले से सिद्ध है ही यदि ऐसी शंका की जाये तो उचित नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार घटावच्छिन्न आकाश का साक्षात्कार उस घट से विवेक करने पर ही होता है उसी प्रकार शब्दादि वृत्तियों से अवच्छिन्न चिदाकाश के भाग का साक्षात्कार वृत्तियों से विवेक करने पर ही होता है तथा सम्पूर्ण जगत् का विवेक करने पर परिपूर्णत्व आदि रूप से होने वाला सिद्धि रूप जो परमात्मा का साक्षात्कार है वह इससे भिन्न है—यह भाव है।<sup>७</sup>

इस उक्त प्रकार के संयम को छोड़कर आत्मसाक्षात्कार का अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः आत्म-जिज्ञासु को चाहिए कि अणिमादि सिद्धि को दिलाने वाले अन्य प्रकार के संयमों को छोड़कर मात्र इस ही संयम को करे ऐसा सांख्य एवं योग का सार है तथा हमारे द्वारा अनुभव के आधार पर भी कहा जा रहा है।<sup>८</sup> इस पुरुष में संयम करते हुए उस पुरुषज्ञान की सूचक अन्य सिद्धियाँ भी प्रारम्भ में प्राप्त होती हैं



यथा प्रातिभज्ञान, श्रावण, आस्वाद एवं वात नामक । वहाँ दृष्टकारण के बिना ही अचानक व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीत तथा अनागत एवं सूक्ष्म आदि पदार्थों के बोध का सामर्थ्य ही प्रतिभा है, उससे उत्पन्न जो ज्ञान है वह प्रातिभ, यह मानस सिद्धि है । (अन्य सिद्धियों को स्पष्ट करते हैं ।) और व्यवहित आदि शब्दों का श्रावण, श्रावण नामक श्रोत्र की सिद्धि है । तथा व्यवहित आदि पदार्थ का स्पर्श, वेदना नामक त्वग्निन्द्रिय की सिद्धि है, एवं व्यवहित आदि पदार्थों को देख पाना आदर्श नामक चाक्षुष सिद्धि है । और व्यवहित आदि गन्ध को ग्रहण कर पाना वात नामक घ्राण की सिद्धि है । ये छः इन्द्रियों की छः सिद्धियाँ, पुरुषसाक्षात्कार की हेतुभूत समाधि के लिए बाधक ही हैं । जो साधक विषयभोग में लिप्त होने के कारण समाधि से अग्र हैं, ऐसे बहिर्मुखी वृत्ति वाले व्युत्थितचित्त साधकों की दृष्टि से ही ये पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली सिद्धियाँ कही जाती हैं ।<sup>१०</sup> वे समाधि में बाधक हैं परन्तु व्युत्थित चित्त वालों की दृष्टि से सिद्धियाँ हैं (यो० सू० ३.३७) । इस सूत्र में भी यही बात कही गयी है । अतः आत्मजिज्ञासु के द्वारा इन सिद्धियों की कामना नहीं की जानी चाहिए । और कामना न किए जाने पर भी यदि स्वयं उपस्थित हो जाए तो भी उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए ।

इस प्रकार आत्मज्ञानरूप सिद्धि का कारणरूप संयम कह दिया गया है ।

इसके पश्चात् वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत जो सम्प्रज्ञात समाधि है उसके कारण रूप गृहीतृ, ग्रहण एवं ग्राह्य पदार्थों में किए जाने वाले संयम । फलस्वरूप प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ कही जाएँगी ।<sup>११</sup> इन पूर्वोक्त आलम्बनों में ग्राह्य, ग्रहण एवं ग्रहीता इस क्रम से ही स्वाभाविक रूप से संयम उत्पन्न होता है अतः सर्वप्रथम ग्राह्य विषयक संयम जन्य सिद्धि को ही कहा जा रहा है ।<sup>१२</sup> उनमें भी कार्य कारण के भेद से तथा धर्म एवं धर्मों के भेद से पाँच रूप होते हैं । ये पाँच रूप इस प्रकार हैं—स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय; अर्थवत्त्व ।<sup>१३</sup> शब्दादि विशेष गुण वाले आकाशादि, भूतों के स्थूल रूप हैं ।<sup>१४</sup> आकाशत्व, वायुत्व आदि पाँचों भूतों में जो सामान्य पंचक है वह भूतों का स्वरूप नामक रूप है ।<sup>१५</sup> शब्दादि जो पाँचों तन्मात्राएँ हैं वे इनका सूक्ष्म रूप हैं ।<sup>१६</sup> अनु गच्छतीति अन्वयः इस व्युत्पत्ति के आधार पर सत्त्वादि तीनों गुणों वाली प्रकृति की अन्वय संज्ञा है ।<sup>१७</sup> गुण में विद्यमान जो भोग अपवर्ग रूपी पुरुषार्थ है वह ही इन भूतों की अर्थवत्ता है ।<sup>१८</sup> इन पाँचों रूपों के संघात रूप पाँचों भूतों में इन पाँचों रूपों के द्वारा साक्षात्पर्यन्त संयम करने पर भूतजय नामक सिद्धि की प्राप्ति होती है । 'स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व इन पाँचों रूपों पर संयम करने से भूतजय नामक सिद्धि की प्राप्ति होती है (यो० सू० ३.४४)।' इस सूत्र के द्वारा भी यही कहा गया है । जय से तात्पर्य इन पदार्थों का वश में हो



जाना है अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार प्रवर्तित कर पाना । यद्यपि अहंकार एवं बुद्धि भी भूतों के कारण के रूप में भूतों में अनुगत होने के कारण, भूतों का रूप होते हैं; तथापि यज्ञादि के फल के समान, संयम की सिद्धि को बताते हुए, उन दोनों प्रकार का संयम भूतों के माध्यम से नहीं बताया गया है क्योंकि बुद्धि एवं अहंकार पर संयम करने से उन दोनों को विजित नहीं किया जा सकता । इन्द्रियों के साथ उनका वर्णन किया जाएगा ।

तदनन्तर भूतों के जीत लेने पर अणिमादि सिद्धियों का प्रादुर्भाव, कायसंपद् एवं भूतों के धर्मों द्वारा बाधित न होना रूप तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । इनमें से जो अणिमादि आठ सिद्धियाँ बतायी गयी हैं उनका स्मृतियों में परिगणन किया गया है—अणिमा, महिमा, लघिमा ये शारीरिक सिद्धियाँ हैं । प्राप्ति इन्द्रियों के द्वारा होने वाली सिद्धि है । प्राकाम्य-श्रुत एवं दृष्ट पदार्थों में इच्छानुसार गति करना है, शक्ति को प्रेरित करना ईशिता है, गुणों में आसक्त न होना, वशिता तथा स्वेच्छानुसार विषयों का परिवर्तन कर देना कामावसायिता नामक सिद्धि है ।

इनमें से जो अणिमा नामक सिद्धि है उसके द्वारा साधक स्वेच्छापूर्वक अपने शरीर को अणु जितना छोटा बना सकता है । इसी प्रकार महिमा (इसके द्वारा शरीर को जितने बड़े से बड़ा चाहे बना सकता है) । लघिमा नामक सिद्धि के प्रभाव से साधक अपने भारी एवं विशाल शरीर को भी रुई की भाँति हल्का बना सकता है जिससे आकाश में वह संचरण कर सकता है । इन्द्रियः प्राप्ति नामक सिद्धि के द्वारा साधक भूमि पर बैठे हुये भी अंगुलि के द्वारा चन्द्रमा को छू लेता है इत्यादि । प्राकाम्य नामक सिद्धि के बल से मान्नु सुने हुए तथा देखे हुए स्वर्ग एवं जल आदि बाधित गति वाले प्रदेशों में एवं पदार्थों में स्वेच्छा से निरव्यवधान विचरण कर सकता है । ईशिता नामक सिद्धि के द्वारा भूत एवं भौतिक पदार्थों की शक्तियों को स्वेच्छापूर्वक प्रेरित कर सकता है । वशिता नामक सिद्धि के द्वारा भौतिक पदार्थों की शक्तियों को प्रतिबन्धित करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है और स्वयं उनके वश में नहीं रहता । यत्रकामावसायित्व नामक आठवीं सिद्धि है जिसके द्वारा विष को भी अपनी इच्छा से अमृत बना सकता है तथा अमृत को भी विष बनाने का सामर्थ्य उसमें आ जाता है । इस प्रकार अणिमा आदि आठों सिद्धियों की व्याख्या कर दी गई है ।

कायसंपत् नामक सिद्धि के द्वारा, सौन्दर्य, ताजगी एवं सुदृढ़ता प्राप्त हो जाती है ।

भूतधर्मान्निघात नामक सिद्धि के द्वारा पृथ्वी आदि के काठिन्य आदि धर्मों से योगी के शरीर की गति बाधित नहीं होती । जैसे—पृथ्वी का जो धर्म काठिन्य है वह योगी के शरीर की गति को बाधित नहीं करता जिसके फलस्वरूप



वह पर्वत को भी भेदकर अपने स्थूल शरीर के द्वारा ही जा सकता है अथवा शिला में प्रवेश करके बैठ सकता है। जल का स्नेह शरीर को गीला नहीं करता। अग्नि की गर्मी उसे नहीं जलाती। वायु की गतिशीलता उसे नहीं चलाती। न ढकने वाला आकाश भी उसे ढक लेता है जिसके द्वारा वह सिद्धों को भी न दिखने वाला हो जाता है। इस प्रकार ग्राह्य विषयों पर संयम करने से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ कह दी गयी हैं।

ग्रहण विषय पर संयम करने से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन किया जा रहा है। इनके द्वारा ग्रहण किया जाता है, इस व्युत्पत्ति के आधार पर एकादश इन्द्रियाँ ग्रहण कही जाती हैं। कार्य एवं कारण तथा धर्म और धर्मी में अभेद होने के कारण इनके भी पाँच रूप होते हैं। ये रूप हैं—ग्रहण, रूप, अस्मिता, अन्वय एवं अर्थवत्त्व। इनमें इन्द्रियों की जो वृत्तियाँ हैं वे ग्रहण हैं। इन्द्रियाँ स्वरूप हैं। अहंकार ही अस्मिता है। यहाँ ही बुद्धि का भी अन्तर्भाव हो जाता है। और अन्वय पहले की भाँति ही तीन गुणों वाली प्रकृति है। अर्थवत्त्व तो पहले की भाँति है ही। साक्षात् पर्यन्त, इन पाँच रूपों का संघात रूप जो इन्द्रियाँ हैं उन पर इन पाँच रूपों से संयम करने से इन्द्रियजय नामक सिद्धि होती है।<sup>१६</sup> सूत्र में भी कहा गया है 'ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय तथा अर्थवत्त्व (इन्द्रियों के इन पाँचों रूपों) पर संयम करने से इन्द्रियजय नामक सिद्धि की प्राप्ति होती है।' तदनन्तर मनोज-वित्त्व, विकरणभाव, तथा प्रधानजयित्व ये तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इनमें जो मनोजवित्त्व नामक प्रथम सिद्धि है उसके फलस्वरूप साधक शरीर की अन्त्यन्त तीव्र गति को प्राप्त कर लेता है। इस सिद्धि के बल पर ही सिद्ध गुरु अपने उपासक के द्वारा मात्र याद किए जाने पर ही क्षण भर में उसके समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। स्थूल देह के बिना ही अपनी इन्द्रियों के द्वारा अभीष्ट पास अथवा दूर के विषयों में गति करने की सामर्थ्य का लाभ विकरणभाव के द्वारा होता है। इन्द्रियों का सब जगह फैलना ही विकरणभाव है। समस्त प्रकृतियों एवं उनके विकारों का वश में हो जाना अर्थात् स्वेच्छा से उन्हें प्रेरित करने के सामर्थ्य की प्राप्ति होना ही प्रकृतिजय है। इन पाँच रूपों के द्वारा इन्द्रियों पर संयम करने से तीन प्रकार की मधुप्रतीका सिद्धियाँ कही जाती हैं। इस प्रकार ग्रहण करने से प्राप्त सिद्धियाँ कह दी गई हैं।

अब ग्रहीता पर संयम से होने वाली सिद्धियाँ कही जा रही हैं। ग्रहीता के कार्य-कारण विलक्षण होने से तथा वह सभी धर्मों से रहित है अतः उसमें रूपभेद नहीं है। उपाधि सत्त्व से भिन्न ग्रहीता पुरुष सामान्य में साक्षात्पर्यन्त संयम करने से सर्वभाव-अधिष्ठातृत्व तथा सर्वज्ञत्व नामक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। 'प्रकृति और पुरुष का विवेकज्ञान हो जाने पर सम्पूर्ण पदार्थों का स्वामित्व एवं सर्वज्ञत्व सिद्ध हो जाता है (यो० सू० ३.४६)।' इस सूत्र के द्वारा भी यही बताया गया है। और यह



सिद्धि समस्त इच्छाओं की प्राप्ति के द्वारा सारे शोकों से रहित होने के कारण विशोका नाम से जानी जाती है। इस सर्वभावाधिष्ठातृत्व में परमेश्वर की भाँति अपनी इच्छा से समस्त वस्तुओं को प्रेरित करने का सामर्थ्य आ जाता है। प्रकृति एवं पुरुष आदि में अप्रतिहत इच्छा वाला हो जाता है। सर्वज्ञत्व अभी बताया जाना है। वही सर्वज्ञत्व जो विवेक से उत्पन्न ज्ञान है, उसे तारक कहा जाता है, सत्त्व-पुरुष के विवेक पर संयम करने से उत्पन्न होने के कारण तत्ता संसार से पार कराने वाला होने के कारण। और वही निम्न सूत्र के द्वारा बताया गया है। 'विवेकजज्ञान तारक, सर्वविषयक, सर्वथाविषयक और अक्रम होता है (यो० सू० ३.५४)।' विष्णु-पुराण में भी इसी प्रकार कहा गया है—

‘अज्ञान घोर अन्धकार के समान है, इन्द्रिय जनित ज्ञान दीपक के सदृश है और हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! यह जो विवेक से प्राप्त ज्ञान है वह सूर्य के समान है।’

पहले वर्णित परार्थ-प्रत्यय से भिन्न स्वार्थ-प्रत्यय पर संयम करने से उसके साक्षात्कार पर्यन्त पुरुष की साक्षात् रूपी सिद्धि कही गई है। यहाँ बुद्धि और सत्त्व में अभेद होने के कारण, पुरुष में पुरुष साक्षात्पर्यन्त संयम करने से सार्वज्ञ आदि सिद्धि कही गयी है; यही दोनों में भेद है। उस, इस ग्रहीतृ संयम की दोनों सिद्धियों को कह चुकने पर सूत्रकार के द्वारा उसकी ही दूसरी, समस्त सिद्धियों में मूर्धन्य परमसिद्धि कही गयी है—‘उस (सिद्धि) के प्रति भी वैराग्य के कारण दोषों के बीज का नाश होने पर कैवल्य की प्राप्ति होती है (यो० सू० ३.५०)।’ इसका यह अर्थ है कि क्लेश एवं कर्मरूप दोषों का जो कि संसार के कारण हैं, आत्मज्ञान के द्वारा पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर, वे दोनों सिद्धियाँ भी वैराग्य के द्वारा निरुद्ध हो जाती हैं, और उस वैराग्य के द्वारा कैवल्यरूपा सिद्धि प्राप्त होती है। मोक्षधर्म में भी कहा गया है—

‘इस मोक्ष की सर्वश्रेष्ठ विधि वैराग्य ही है और वैराग्य ज्ञान से ही होता है, जिससे कि फिर मुक्ति हो जाती है।’

और यदि ज्ञान का परिपाक न हो तो सार्वज्ञ आदि सिद्धियों में राग बना रहता है। उस अवस्था में ये दोनों (पूर्वोक्त) सिद्धियाँ कैवल्य नामक सिद्धि के लिए बाधक हो जाती हैं यह भाव है।<sup>२०</sup>

इस प्रकार मुख्य संयम की सिद्धियाँ बता दी गयी हैं। और जैसे सर्वज्ञत्व पर्यन्त सिद्धि के ज्ञान के बिना भी मोक्ष होता है; उस प्रकार को पहले ही कह दिया गया है। अब सिद्धि के प्रकार कहे जाएँगे। जब मनुष्य आदि के शरीर के द्वारा ही, देवत्व को प्राप्त करता है, अथवा अणिमा आदि सिद्धियाँ प्रादुर्भूत होती हैं, तब क्या संकल्प एवं योगजधर्म के अतिरिक्त भी किसी कारण की अपेक्षा होती है अथवा नहीं इस संशय का समाधान निम्न सूत्र के द्वारा किया जा रहा है—‘अन्य



जो जात्यन्तर परिणाम होता है वह प्रकृति के आपूरण से होता है' (यो० सू० ४.२)। इसका यह अर्थ है कि मनुष्यादि के शरीर जो देवादि जात्यन्तर रूप परिणाम होता है वह सत्त्वादि विशेष के देवादि शरीर के बनाने में आवश्यक तत्त्वों के आपूरण से ही होता है। इस आपूरण में अधर्म आदि, प्रतिबन्ध की निवृत्ति द्वारा योगी के संकल्प तथा योगज धर्म आदि का निमित्त मात्र है न कि प्रकृति का प्रेरक। क्योंकि प्रकृति स्वयं ही सब रूपों में परिणत होने का सामर्थ्य रखती है अतः प्रकृति के स्वातन्त्र्य की यहाँ हानि नहीं होती। सूत्र में भी इसे पुष्ट किया गया है— 'निमित्त प्रकृति के प्रयोजक नहीं हैं वरन् कृषक के सदृश आवरण को हटाने वाले हैं' (यो० सू० ४.३)।<sup>२१</sup> यहाँ जो प्रकृति का आपूरण कहा गया है उसके द्वारा प्रकृति का अपसारण भी उपलक्षित हो जाता है। जात्यन्तर परिणाम के द्वारा अणिमा, महिमा आदि सिद्धियाँ भी उपलक्षित जाननी चाहिए। इस प्रकार आवश्यकतानुसार प्रकृति के आपूरण एवं अपसारण से समस्त सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार वामन, नृसिंह, वराह आदि के रूप में जो क्षणमात्र में परिवर्तन है वह प्रकृति के आपूरण से ही शरीर वृद्धि द्वारा होता है। अगस्त्य आदि के द्वारा पिये जाने वाले समुद्र आदि का अल्पत्व प्रकृति के अपसारण से ही हो पाता है। कायव्यूह नामक सिद्धि में अन्य देहों को प्रकृति पृथक् रूप से आरम्भ करती है यह विशेष रूप से जानना चाहिए।

जब योगी कायव्यूह करता है तो क्या प्रत्येक देह में विद्यमान चित्तों का निर्माण वह चित्त प्रकृति से करता है अथवा एक ही निर्मातृ चित्त के द्वारा समस्त शरीरों का अधिष्ठान करता है—ऐसा संशय होने पर उसका समाधान निम्न सूत्र के द्वारा किया गया है—निर्माणचित्त अस्मितामात्र से ही होते हैं (यो० सू० ४.४) इसका यह भाव है—अस्मितामात्र रूप अहंकार रूपी कारण से बहुत से ही प्रत्येक शरीर में नियत मनो को योगी संकल्प के द्वारा उत्पन्न कर लेता है। अन्यथा एक चित्त होने पर विरुद्ध भोग एवं समाधि आदि कार्य भिन्न-भिन्न देहों के द्वारा सम्पन्न न हो सकेंगे। एक चित्त मानने पर सर्वज्ञ विष्णु के द्वारा श्रीराम के रूप में अभिनय करते हुये अज्ञान का स्वीकार करना सिद्ध नहीं हो सकेगा। योगियों के द्वारा भिन्न-भिन्न शरीरों के द्वारा भिन्न-भिन्न कार्यों को सिद्ध करना देखा जाता है। स्मृति में भी कहा गया है—'योगी का कोई शरीर तो विषयों को भोगता है और कोई बड़ी उग्र तपस्या करता है। इस प्रकार योगिराज अनेकों शरीरों को बिगाड़ते बनाते रहते हैं।'।

समस्त निर्माण चित्तों का एक ही निर्मातृचित्त प्रवृत्ति-निवृत्ति में प्रयोजक होता है<sup>२२</sup> 'उन अनेक चित्तों के व्यापार भेद में प्रयोजक मात्र एक चित्त ही होता है (यो० सू० ४.५)।' इस सूत्र के द्वारा कभी-कभी एक ही चित्त के द्वारा नाना शरीरों का अधिष्ठान करना भी निराकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि योगी स्वतन्त्र इच्छा



वाले रहते हैं। इस वर्णन के अनुसार हिरण्यगर्भ आदि के द्वारा जगत्सृष्ट्यादि भी प्रकृति के आपूर से होती है—की व्याख्या कर दी गयी है। यहाँ प्रकृत्यापूर के द्वारा अन्य जीवों का अपनी-अपनी उपाधि के साथ संयोग भी उपलक्षित कर दिया गया है, जिसके द्वारा योगी अन्य जीवों हाथी एवं घोड़ों आदि को निर्मित कर ऐश्वर्य का उपभोग करता है।<sup>२३</sup>

जिस प्रकार समाधिजन्य सिद्धियाँ पहले कह दी गयी हैं उसी प्रकार जन्मादि सिद्धियाँ भी जाननी चाहियें। दोनों में अन्तर यह है कि समाधि के द्वारा संस्कृत हुआ चित्त ही आत्मसाक्षात्कार के द्वारा साक्षात् मोक्ष का हेतु होता है जन्मादि के द्वारा सिद्ध नहीं।

‘सिद्धियाँ जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न होती हैं (यो० सू० ४.१)’ इस सूत्र के द्वारा सिद्धियाँ पाँच प्रकार की बतायी गई हैं। उन सिद्धियों को स्पष्ट करते हुये लिखते हैं—उनमें देवताओं को जन्म से प्राप्त जन्मसिद्धि अणिमादि होती हैं, और असुरों को ओषधिसिद्धि—अत्यन्त बल को प्राप्त करना अथवा सुवर्ण आदि को निर्मित करना। मन्त्रों के द्वारा आकाश में गमन आदि के सामर्थ्य को प्राप्त कर लेना मन्त्रसिद्धि कहलाती है। तपःसिद्धि से तात्पर्य तप के द्वारा संकल्प सिद्धि आदि को प्राप्त कर लेना है। समाधि सिद्धियों की तो व्याख्या कर ही दी गई है। प्रह्लाद आदि की भक्ति आदि से उत्पन्न सिद्धियों को तप सिद्धि के मध्य ही डालना चाहिये क्योंकि स्मृति में कहा गया है कि ‘भक्ति के लेशमात्र से भी अक्षय परमधर्म उत्पन्न होता है।’

इस प्रकार यह विज्ञानभिक्षु द्वारा विरचित योगसारसंग्रह का तृतीय अंश है।



## चतुर्थ अंश

योग की विभूतियों का वर्णन कर दिया गया है। अब ज्ञान एवं योग के मुख्य फल कैवल्य का प्रतिपादन किया जाएगा।

इस संदर्भ में सूत्र उद्धृत करते हैं—‘पुरुष के (भोग एवं मोक्ष रूप) प्रयोजन से निवृत्त हुये गुणों का (अपने कारण में) लीन हो जाना अथवा चितिशक्ति की अपने स्वरूप में अवस्थिति कैवल्य है।’<sup>१</sup> यहाँ गुण शब्द से तात्पर्य बुद्धि रूप में परिणत सत्त्वादि से है। कैवल्य एकाकिता को कहा जाता है। वह (कैवल्य) एक दूसरे से (प्रकृति एवं पुरुष) दोनों का वियोग होने से गुण एवं पुरुष दोनों का ही होता है। विवेकख्याति के उपरान्त पर वैराग्य के द्वारा पुरुषार्थ शून्य गुणों का जो कि पुरुष के साधन मात्र होते हैं हमेशा के लिये प्रतिप्रसव ही प्रलय है। अतः इस प्रकार पुरुष से इनका अत्यन्त वियोग हो जाता है। इससे उन्हें (गुणों को) नष्ट हुआ नहीं समझना चाहिये क्योंकि योगसूत्र में स्पष्ट ही कहा है—‘जिसका (भोग एवं मोक्ष रूप) प्रयोजन पूर्ण हो चुका है, उसके प्रति नष्ट हो जाने पर भी गुणों का नाश नहीं होता, क्योंकि उससे भिन्न पुरुषों के लिये वे समान रूप से पूर्ववत् रहते हैं (यो० सू० २.२२)।’<sup>२</sup> यहाँ जो दो प्रकार के कैवल्य बताये गये हैं उनमें पहला कैवल्य प्रकृति का धर्म है और दूसरा कैवल्य पुरुष का स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना है। और वह चितिशक्ति का प्रतिबिम्ब रूप में विद्यमान उपाधि से विमुक्त हो जाना ही है। दोनों ही पक्षों का पुरुष के दुःखभोगनिवृत्तिरूप पुरुषार्थ में अन्त होता है। अतः योगसूत्र में कहा गया है—‘अनागत (भविष्यत्-कालिक) दुःख त्याज्य है (यो० सू० २.१६)।’<sup>३</sup> यहाँ जो उक्त सूत्र द्वारा मत प्रकट किया गया है उसका सां० के निम्न सूत्र से साम्य ही है। वह सूत्र है—‘तीनों प्रकार के दुःखों का सदा सर्वदा के लिये क्षीण हो जाना ही परमपुरुषार्थ है (सां० सू० १.१)।’<sup>४</sup> वेदान्ती तो जीवात्मा का परमात्मा में लीन होना ही मोक्ष मानते हैं।<sup>५</sup> उनके साथ हमारा विरोध नहीं है।<sup>६</sup> क्योंकि जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में लीन होती हैं उसी प्रकार जीव भी अपनी उपाधि के लीन होने पर ब्रह्म में एकत्व भाव को प्राप्त करते हैं यही लय शब्द का अर्थ है और उसका अन्त पर रूप में (भिन्न सत्ता बनाये रखते हुये) विद्यमान न रहना है। वैशेषिकों के मत में समस्त विशेष गुणों का नाश ही मोक्ष है।<sup>७</sup> वह भी हमारे मत के विरुद्ध नहीं है। क्योंकि हम विशेष गुणों को



उपाधि के रूप में मानकर उन गुणों के उच्छेद से तात्पर्य लगा सकते हैं कि उन विशेष गुणों के उच्छेद का तात्पर्य इस उपाधि से विमुक्त होना ही है।<sup>१५</sup> नैयायिक तो आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं।<sup>१६</sup> वह तो हमारा ही मत है। अन्तर मात्र इतना है कि हम भोग्यभोक्तृभाव सम्बन्ध के द्वारा दुःखनिवृत्ति को पुरुषार्थ मानते हैं जबकि नैयायिक समवाय सम्बन्ध के द्वारा।<sup>१७</sup> हम नवीन वेदान्तियों के मत की जो कि नित्य आनन्द की प्राप्ति को ही परममोक्ष मानते हैं<sup>१८</sup> स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि ब्रह्ममीमांसा आदि समस्त दर्शनशास्त्रों में इस भाव के सूत्र नहीं प्राप्त होते। तथा श्रुति, स्मृति एवं तर्क से विरुद्ध होने के कारण भी हम उक्तमत नहीं मान सकते। इस विषय की पुष्टि में हमें मोक्ष अवस्था में सुख का प्रतिषेध करने वाली श्रुतियाँ उपलब्ध होती हैं—‘विद्वान् हर्ष एवं शोक को त्याग देता है (क० २।२)।’ ‘शरीर से छूट जाने पर इसे प्रिय अथवा अप्रिय स्पर्श नहीं करते (छा० ८।२)।’ स्मृति में भी कहा गया है—

‘जो कुछ भी सुख प्रतीत होता है उसे दुःख के रूप में मानकर साधक अत्यन्त कठिनाई से पार किये जा सकने वाले सागर को पार कर सकता है। जो नर विद्या एवं कर्म के बल से परमात्मा में लीन हो गया है वह कभी भी सुख अथवा दुःख से युक्त नहीं होता।’

यह तर्क संगत है कि यदि मोक्ष को उत्पन्न होने वाला माना जाए तो इसके नाश का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा और यदि उसे नित्य माना गया तो फिर वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता। अतः नित्य सुख की उपलब्धि ही मोक्षपद से वाच्य है यह माना जाए तो उचित नहीं है। उपलब्ध होने पर भी नित्य एवं अनित्य के विकल्प से तो ग्रस्त रहेगा ही। नित्यसुख को दिलाने वाला अविद्या का भंग पुरुषार्थपद से वाच्य है यदि ऐसा कहा जाए तो भी उचित नहीं है क्योंकि सुख का अनुभव ही संसार में पुरुषार्थ है, चैतन्य के नित्य होने के कारण उसमें आवरण होना ही संभव नहीं है।

इस प्रकार मोक्ष में परम आनन्द को श्रुति एवं स्मृति के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता यदि ऐसा कहा जाये तो उचित नहीं है क्योंकि मोक्ष में परमानन्द का प्रतिपादन करने वाली श्रुति एवं स्मृति की संगत कैसे होगी।

ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि मोक्षप्रतिपादक शास्त्रों द्वारा उसकी संगति लग जाती है—‘इस संसार में दुःख ही है, सुख नहीं क्योंकि दुःख की प्राप्ति ही यहाँ होती है, दुःख से पीड़ित व्यक्ति की दुःख-निवृत्ति ही सुख रूप में जानी जाती है। (वास्तव में) कामसुख की अपेक्षा ही दुःख है और सुख-दुःख से परे हो जाना ही सुख है।’



इत्यादि स्मृतियों के द्वारा निश्चय ही दुःख बहुल होने के कारण सुख को भी दुःख के रूप में परिभाषित कर उस प्रकार के दुःख की निवृत्ति ही सुख के रूप में परिभाषित की गई है। इस संदर्भ में द्रष्टव्य है—‘दुःखनिवृत्ति ही गौण-रूप से सुख कही जाती है (सां० सू० ५।६७)।’ ‘दुःख-निवृत्ति रूप मुक्ति की प्रशंसा मन्द-बुद्धियों के लिए ही है। (सां० सू० ५.६८) आनन्द प्राप्ति तो गौण मोक्ष है जो कि ब्रह्मलोक में होता है।

इस प्रकार यह कैवल्य संक्षेप रूप में प्रतिपादित कर दिया गया है।

योगशास्त्र का सार संक्षेप में वर्णन कर दिया गया है, मुमुक्षु को योगदर्शन में इससे अधिक की अपेक्षा नहीं होती। सांख्यसार<sup>१२</sup> में पदार्थों की विस्तृत चर्चा हुई है, विस्तार के भय से इस ग्रन्थ में उनका वर्णन नहीं किया जा रहा। ब्रह्म-प्रकरण (वेदान्त) में,<sup>१३</sup> तथा ब्रह्मादर्श<sup>१४</sup> नामक ग्रन्थ में ईश्वर का वर्णन कर दिया गया है, ग्रन्थ को संक्षिप्त करने की कामना से यहाँ उसका वर्णन नहीं किया जा रहा। इस दर्शन में सांख्य के अनुसार ही सृष्टि आदि विषय निर्विरोध जानने चाहिए और उनके द्वारा दूषित ईश्वर आदि यहाँ प्रसाध्य होंगे। वह ईश्वर वेदान्त एवं न्याय आदि में सिद्ध हो चुका है। उसके द्वारा भी सिद्ध न किया गया विषय ‘स्फोट’ तथा ‘मन का विभुत्व’ है। सांख्य द्वारा आक्षेपित इन विषयों का हमारे द्वारा संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

स्फोट

शब्द तीन प्रकार के होते हैं—वागिन्द्रियविषयक, श्रोत्रेन्द्रियविषयक तथा बुद्धिमात्र का विषय। इनमें कण्ठतालु आदि स्थानावच्छिन्न शब्द वागिन्द्रिय का विषय होता है, उसका कार्य होने के कारण। वागिन्द्रिय से व्यवहित श्रोत्रेन्द्रिय में रहने वाला शब्द से उत्पन्न शब्द ही श्रोत्र के द्वारा ग्राह्य होने के कारण, श्रोत्र का विषय होता है। परन्तु घट इत्यादि कहे के अनुसार तो बुद्धिमात्र के विषय होते हैं क्योंकि वे बुद्धि के द्वारा ही ग्रहण किए जा सकते हैं। वे पद ही अर्थों को स्फुट करने के कारण स्फोट कहे जाते हैं। और वह पद वागिन्द्रिय द्वारा उच्चरित प्रत्येक वर्ण से अतिरिक्त होता है क्योंकि वर्ण अत्यन्त शीघ्र नष्ट हो जाते हैं अतः उनके न मिल सकने के कारण एक पद के रूप में उनका व्यवहार सम्भव नहीं है। और यह किसी भी अर्थ को नहीं दे सकेगा। यह स्फोट एक प्रयत्न विशेष के कारण होता है, यदि भिन्न-भिन्न प्रयत्नों के द्वारा वर्णों का उच्चारण किया जाये तो एक पद के रूप में उनका व्यवहार सम्भव नहीं हो सकेगा और न ही अर्थ का भान हो सकेगा। और उस स्फोट का व्यञ्जक एक क्रमविशेष में उच्चरित वर्णों में अन्तिम वर्ण का ज्ञान है। अतः उस स्फोट को बुद्धि ही ग्रहण कर सकती है; क्रमविशेष का ग्रहण केवल बुद्धि के द्वारा ही हो सकता है; अतः इस क्रमविशेष के ज्ञान से समानाधिकरण्य में अत्यन्त



समीपता होने के कारण स्फोटसंज्ञक पद को ही अभिव्यक्ति का कारण मानने में लाघव है। अतः स्फोट को श्रोत्र के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। यथा घ के पश्चात् टत्व आदि का क्रमविशेष के रूप में श्रोत्र के द्वारा ग्रहण किया जाना संभव नहीं हो सकता क्योंकि वर्ण शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं अतः उनका मिलना सम्भव नहीं है। पहले-पहले के वर्णों के संस्कार तथा उनकी स्मृतियाँ अन्तःकरण में रहती हैं अतः अन्तःकरण को सहकारी के रूप में स्वीकार किया ही जाना चाहिए।

यह ठीक है, किन्तु स्फोट को अभिव्यक्त करने वाला जो आनुपूर्वीविशिष्ट अन्तिम वर्ण है वह भी तो अर्थ का बोध कराने वाला पदरूप हो सकता है, फिर स्फोट की क्या आवश्यकता क्योंकि यदि कार्य का प्रयोजन कारण से ही सिद्ध हो जाए तो कार्य की अपेक्षा नहीं, सांख्यसूत्र में भी यही कहा गया है—‘प्रतीति और अप्रतीति के कारण शब्द स्फोटात्मक नहीं है’ (सां० सू० ५.५७)<sup>१५</sup> पद की एकत्व प्रतीति भी आनुपूर्वीविशिष्ट अन्तिम वर्ण के एकत्व से संगत हो जाती है। यदि ऐसी शंका की जाए तो उचित नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर अवयवी के उच्छेद का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। संयोगविशेष असमवायिकारण से अवच्छिन्न जो घट के अवयव हैं उन्हें ही जल आदि के लाने में हेतु माना जाए तो इस कल्पना में लाघव है, इस न्याय के द्वारा उक्त कथन की समता की जा सकती है।<sup>१६</sup> अतएव ऐसा मान लिया जाय। एवं ‘एक वन’ इत्यादि प्रत्ययों के समान ‘एक घट’ इत्यादि का ज्ञान भी संगत हो सकता है। यदि यह कहा जाए कि परमाणु एवं उसके संयोग तो अतीन्द्रिय होने के कारण अव्यक्त हैं, अतएव यदि अवयवी को तद्रूप माना जाएगा तो उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा; इसके द्वारा अवयवों से भिन्न अवयवी की सिद्धि होती है; तो स्फोट के विषय में भी ऐसा ही जानना चाहिए। आनुपूर्वी अतीन्द्रिय क्षण आदि से सिद्ध होने के कारण, यदि पद को आनुपूर्वी विशिष्ट अन्तिम वर्ण माना जाए तो उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। ये सब तर्क स्फोट के सिद्धिपरक हैं। इसके अतिरिक्त स्फोट शब्द को भी हम स्वर्गादि के समान श्रुति प्रमाण के द्वारा ही कल्पित करते हैं, अतः इस विषय में तो लौकिक प्रमाण के न होने पर भी कोई हानि नहीं है। यथा—श्रुतियाँ प्रणव की ब्रह्मादि त्रिदेव रूपी अकार, उकार और मकार रूप तीन मात्राओं का उल्लेख करके प्रणव के इन तीनों देवताओं से भिन्न परब्रह्मरूपा चतुर्थ मात्रा को बताती हैं, वह<sup>१७</sup> चतुर्थ मात्रा उक्त तीनों वर्णों से भिन्न स्फोट ही हो सकती है और उसे ही अर्धमात्रा भी कहा जाता है। वर्ण एवं पद ढेरी के सदृश होते हैं इन्हें विभक्त नहीं किया जा सकता अतः उनका एक अर्धभाग ‘वर्ण’ कहा जा सकता है और दूसरा भाग ‘पद’। जिस प्रकार अवयवों से अलग करके अवयवी का व्यवहार नहीं किया जा सकता उसी प्रकार प्रत्येक वर्ण से अलग करके पद का उच्चारण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार स्मृति में भी कहा गया है—



‘देवी नित्य अर्धमात्रा रूप से स्थित है, जिसका पृथक् रूप से उच्चारण नहीं हो सकता ।’

अर्धमात्रा की सिद्धि मान लेने पर भी नाद एवं बिन्दु की सिद्धि आपके मत में किस प्रकार की जा सकती है यदि यह कहा जाए तो बताते हैं—प्रणव का उच्चारण करने पर जो शंखनाद और वंशी के नाद के समान स्वर-विशेष होता है वही नाद है और जो नाद की समाप्ति की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है वह शून्य के सदृश होने के कारण बिन्दु कहा जाता है । अतः सिद्ध होता है कि अवयवों से भिन्न अवयवी के सदृश वर्णों से अतिरिक्त जो पद है वही स्फोट है ।

यदि इस पर वाक्य के स्फोट होने की शंका की जाये तो हमारा यही कथन है कि बाधक के अभाव में वह माना जा सकता है ।<sup>१५</sup>

### अनौर्वच

स्फोट की व्याख्या कर दी गई है । अब मन का विभुत्व सिद्ध किया जा रहा है । (मन) धर्म और अधर्म की वासनाओं का आश्रय रूप एवं प्रत्येक पुरुष का अन्तःकरण तथा नित्य है ।<sup>१६</sup> अदृष्ट आदि प्रकृति के ही धर्म हो सकते हैं—ऐसा मानने पर अन्य पुरुष के अदृष्ट आवि के द्वारा अन्य पुरुष में सुःख-दुःख की उत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा ।<sup>१७</sup> और वह अन्तःकरण अणु भी नहीं हो सकता क्योंकि योगियों को सर्वावच्छेदक मन के द्वारा ही एक साथ सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार सम्भव है तथा योगियों को भी पूड़ी आदि खाने के समय एक साथ अनेक इन्द्रियों की वृत्तियों का अनुभव होता है । योगियों को योगजधर्म के द्वारा सम्बन्ध हो जाता है यह मानना भी अनुपयुक्त है क्योंकि इस प्रकार का अनुभव तो संयोग, संयुक्त और समवाय आदि लौकिक सम्बन्धों के द्वारा ही हो सकता है । अतः अन्य सम्बन्ध की कल्पना में निश्चय ही गौरव दोष होगा ।<sup>१८</sup> इसके अतिरिक्त (लौकिक एवं अलौकिक) दोनों सम्बन्धों का व्यभिचार होगा । एवं साक्षात्कार करने में एक अवान्तर जाति की कल्पना से गौरव दोष भी प्राप्त होगा ।<sup>१९</sup> हमारे मत में तो सर्वार्थ ग्रहण की सामर्थ्य रखने वाले अन्तःकरण के तमोगुण (अज्ञान) रूपी आवरण का भंग ही योगजधर्मादि के द्वारा होता है और सुषुप्ति में तमोगुण अन्तःकरण की वृत्तियों का प्रतिबन्धक है यह तो सिद्ध ही है ।<sup>२०</sup> अन्तःकरण मध्यम परिमाण भी नहीं हो सकता क्योंकि तब (वैसा मानने पर) तो प्रलयकाल में नष्ट हुए के द्वारा पुनः अदृष्ट आदि की आधारता सम्भव नहीं होगी ।<sup>२१</sup> अतः इनके परिशेष रूप से अन्तःकरण विभु ही सिद्ध होता है । स्मृति में भी इसी प्रकार कहा गया है—



‘हे सुमुखि ! चित्ताकाश, चिदाकाश और आकाश ये तीन प्रकार के आकाश हैं। इन (तीनों) में चिदाकाश को दोनों (अन्य) आकाशों से भिन्न जानो।’

ऐसा मान भी लिया जाए तो अन्तःकरण को विभु मानने पर परिच्छिन्न वृत्तिलाभ यद्यपि तमोगुण के आवरण से उपपन्न हो सकता है परन्तु लोकान्तर गमन किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव ये सूत्र भी दिये गए हैं—

‘कारण होने के कारण मन व्यापक नहीं है (सां० सू० ५.६६)।’ एवं ‘मन की गति बताने वाली श्रुति होने के कारण (सां० सू० ५.७०)।’ और ऐसा होने पर चैतन्य के ही आवरण की कल्पना करना उचित है, फिर किस कारण अन्तःकरण के विभुत्व की कल्पना की जाए।<sup>२५</sup> वहाँ ज्ञान के प्रतिबन्धक आवरण की ही कल्पना की जाती है। यदि इस प्रकार शंका की जाए तो उसका समाधान निम्न रूप से किया जा सकता है—कि (मन या अन्तःकरण) की गति को बताने वाली श्रुति तो आत्मा के समान अन्तःकरण के सन्दर्भ में भी प्राण एवं इन्द्रिय आदि उपाधि के कारण संगत हो सकती है तथा कार्य और कारण रूप में अन्तःकरण का द्वैत मानने से कार्यरूप अन्तःकरण की गति तो स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। साथ ही कार्य-कारण के रूप में अन्तःकरण का द्वैविध्य तो सांख्यों को भी अभीष्ट है। यदि अन्तःकरण को मात्र कार्य ही माना जाय तो ‘धर्म आदि अन्तःकरण के धर्म होते हैं (सां० सू० ५.२५)’ यह जो सांख्यसूत्र में कहा गया है उसकी संगति नहीं हो पायेगी। यदि इस (अन्तःकरण) को मात्र नित्य कारण ही माना जाए तो महदादि की उत्पत्ति बताने वाले सूत्र असंगत हो जायेंगे। जो यह कहा गया है कि चैतन्य के आवरण की ही कल्पना करना उचित है वह ठीक नहीं क्योंकि वह कूटस्थ चैतन्य है, अतः उसके ज्ञान के प्रतिबन्ध रूप आवरण की कल्पना करना सम्भव ही नहीं है। और न ही चैतन्य का जो किसी भी पदार्थ विशेष से सम्बन्ध होता है उसको ही प्रतिबिम्ब आदि के रूप में प्रतिबन्धक मान लेना चाहिए, ऐसा अभिप्राय है क्योंकि ऐसा होने पर भी आत्मदर्शन सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि कारण मार्ग के बिना अपने में प्रतिबिम्ब रूप से अपना ही सम्बन्ध असम्भव होता है। इसके अतिरिक्त इच्छा और कृति आदि के आधार रूप से अन्तःकरण की सिद्धि हो जाने पर स्वप्नादि में अन्दर दिखाई देने वाले घट आदि भी उसी के परिणाम मान लिए जाते हैं क्योंकि कार्य और कारण का एक ही अधिकरण होना उचित है।<sup>२६</sup> वे घट आदि आकार रूप परिणाम चैतन्य में दिखते हैं, तथा उससे भिन्न रूप से बाह्य घटादि भी दिखायी देते हैं। अतः उस प्रकार के परिणाम का प्रतिबन्धक ही



आवरण होता है जिसके कारण-निष्ठ होने का अनुमान किया जाता है। तथा आत्मा का आवरण-राहित्य अनेकों श्रुति एवं स्मृतियों से भी सिद्ध ही है। यदि कहा जाए कि विभु मानने पर भी (अन्तःकरण की कार्य-रूपता) सिद्ध नहीं होती, तो उचित नहीं क्योंकि जिस प्रकार कारण आकाश से कार्याकाश रूप परिच्छिन्न परिणाम हो सकता है उसी प्रकार गुणान्तर के भेद द्वारा कारण रूप (विभु) अन्तःकरण से परिच्छिन्न अन्तःकरण रूप परिणाम सिद्ध हो सकता है। श्रुति एवं स्मृतियों के प्रमाणों द्वारा तो यह अभीष्ट है ही।

इस प्रकार मन का विभुत्व व्याख्यात कर दिया गया है। अब क्षण रूप काल की व्याख्या की जा रही है। न्याय एवं वैशेषिक का मत है कि आत्मा की भाँति अखण्ड एवं नित्य एक ही काल है, लाघव से वही उपाधि से अवच्छिन्न होने पर क्षण, मुहूर्त, दिन, रात्रि एवं मास और वर्ष आदि के रूप में व्यवहृत होने लगता है। क्षण नामक कोई पृथक् पदार्थ नहीं होता।<sup>२७</sup> परन्तु सांख्य के अनुसार दिक्, काल आदि आकाश से होते हैं (सां० सू० २.१२)। इस सूत्र के द्वारा महाकाल अथवा क्षण आदि पृथक् पदार्थ नहीं हैं किन्तु आकाश ही के द्वारा उपाधि भेद से क्षण से लेकर महाकाल पर्यन्त व्यवहार होता है ऐसा माना जाता है। परन्तु ये दोनों ही मत ठीक नहीं हैं क्योंकि किसी भी स्थिर उपाधि के द्वारा महाकाल अथवा आकाश से क्षण आदि का व्यवहार नहीं किया जा सकता। भाव यह है कि उपरि-वर्णित (न्याय-वैशेषिक व सांख्य इन) अन्य मतावलम्बियों को महाकाल या आकाश की उपाधि के रूप में परवर्ती देश के संयोग से अवच्छिन्न परमाणु आदि की क्रिया अथवा ऐसा ही कोई अन्य पदार्थ अभीष्ट है। वहाँ उक्त संयोग से विशिष्ट क्रिया आदि विशेष्य, विशेषण तथा उसका सम्बन्ध मात्र हो तो इनकी स्थिरता सिद्ध होने से उनके द्वारा क्षणव्यवहार सम्भव न हो सकेगा।<sup>२८</sup> यदि उसे इन तीनों से भिन्न माना जाता है तो उसकी विशिष्ट संज्ञामात्र ही है। उसी को हमारे द्वारा समस्त स्थिर पदार्थों से भिन्न क्षण नामक काल कहा जाता है। वह न महाकाल है और न आकाश। उसके द्वारा ही क्षण का व्यवहार क्योंकि सिद्ध हो जाता है अतः उससे तदवच्छिन्न क्षण व्यवहार के हेतु के रूप में किसी पदार्थ की कल्पना करना व्यर्थ है। और वह विशिष्ट आदि अस्थिर क्षण प्रकृति का ही अत्यन्त क्षणभङ्गुर परिणाम-विशेष है अतः प्रकृति और पुरुष से भिन्न पदार्थ के रूप में माने जाने की आपत्ति भी नहीं होती।<sup>२९</sup> और उस क्षण के अवयव समूह के द्वारा ही मुहूर्त, दिन, रात आदि से लेकर द्विपरार्थ पर्यन्त काल का व्यवहार होता है। अतः प्रमाण अभाव के कारण कोई अखण्ड महाकाल नहीं माना जा सकता। अब, आज आदि व्यवहार क्षणों के समूह से ही सम्पन्न होते हैं। काल की नित्यता को बताने वाली जो श्रुति एवं स्मृति आदि हैं वे प्रवाह की नित्यता-परक हैं। अतः आवश्यक होने के कारण



काल क्षणात्मक ही है, अखण्ड महाकाल नहीं होता और न ही आकाश काल-व्यवहार का कारण है—यह सिद्ध होता है ।

इसी प्रकार सांख्य आदि में प्रतिषिद्ध हमारे अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तों को भी विद्वानों द्वारा सिद्ध कर लेना चाहिए ॥<sup>३०</sup>

यह विज्ञानभिक्षु विरचित योगसारसंग्रह में कैवल्य आदि का निरूपण करने वाला चतुर्थ अंश है ।

— ० — ० —



## व्याख्या

### प्रथम अंश

१. सूत्रकार पतञ्जलि ने जो योग का लक्षण दिया है वह है— योग-चित्तवृत्तिनिरोधः' (यो० सू० १।२) अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। इस लक्षण को देखकर जिज्ञासा होती है कि क्या चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध यहाँ अपेक्षित है अथवा थोड़ी-बहुत वृत्तियों का निरोध भी योग के अन्तर्गत आ सकता है इसका समाधान व्यास ने अपने भाष्य में किया है वह लिखते हैं कि यहाँ सूत्रकार का मन्तव्य समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं है क्योंकि यदि उन्हें सभी चित्तवृत्तियों का निरोध अपेक्षित होता तो वह सूत्र में सर्व पद का प्रयोग अवश्य करते। उस दशा में सम्प्रज्ञात समाधि की चरम अवस्था को भी योग नहीं माना जा सकता था कारण कि वहाँ भी विवेकव्याप्ति रूप सात्त्विकवृत्ति विद्यमान रहती है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध यहाँ अभिप्रेत नहीं है और जिस किसी चित्तवृत्तिनिरोध को भी योग नहीं माना जा सकता तो फिर वे कौन-सी चित्त की वृत्तियाँ हैं जिनका निरोध यहाँ अभिप्रेत है उसी जिज्ञासा की शान्ति विज्ञानभिक्षु ने योगवार्त्तिक में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रथम सूत्र 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (यो० सू० १।३) को मिलाकर की है। यही यहाँ भी कहा है कि—

'वह चित्त की वृत्तियों का निरोध जो कि पुरुष की आत्यन्तिकी स्वरूपावस्थिति का कारण है दोनों प्रकार के योग का सामान्य लक्षण है।'

शंका की जा सकती है कि व्युत्थान-काल में भी तमोगुण का आधिक्य होने पर जो यत्किञ्चित् वृत्तिनिरोध दृष्टिगोचर होता है वहाँ भी उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। इसका परिष्कार करते हुए विज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट किया है कि व्युत्थानकाल में जो थोड़ा-बहुत चित्त की वृत्तियों का निरोध होता रहता है वह क्योंकि पुनर्जन्म के कारण रूप जो अविद्या आदि क्लेश हैं उनका उच्छेदक नहीं है, साथ ही उस वृत्ति-निरोध से अन्य वृत्तियों के संस्कार भी निश्चिन्त नहीं होते क्योंकि जब तक संस्कार रहेंगे तब तक वृत्ति-संस्कार चक्र निरन्तर प्रवाहित होता रहेगा, अतः पुरुष सदा के लिए तो क्या, कुछ समय के लिए भी स्वरूपावस्थित नहीं हो सकेगा अतः वहाँ इस लक्षण-परिष्कार के कारण कि 'जो वृत्तिनिरोध पुरुष



की आत्यन्तिक स्वरूपावस्थिति का हेतु है वही योग है, व्युत्थानकाल में तो इस लक्षण की अतिव्याप्ति की सम्भावना ही नहीं है ।

२. यहाँ इस लक्षण में कहा गया है कि 'पुरुष की आत्यन्तिक स्वरूपावस्थिति की हेतुभूत चित्तवृत्तियों का निरोध ही' योग है, इसमें आत्यन्तिक पद के प्रयोग का विशेष प्रयोजन है वह यह कि प्रलयकाल में भी चित्तवृत्तियाँ अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाती हैं अतः उस समय पुरुष स्वरूपावस्थित ही रहता है किन्तु पुनः सृष्टि के समय वे वृत्तियाँ फिर से अपने-अपने चित्त के साथ संयुक्त हो जाती हैं । अतः स्पष्ट है कि इस वृत्तिनिरोध द्वारा पुरुष स्वरूपावस्थित तो होता है परन्तु उदा-सर्वदा के लिए नहीं । इस कारण यहाँ उस चित्तवृत्तिनिरोध को ही योग की श्रेणी में गिना गया है जो कि पुरुष की आत्यन्तिकी स्वरूपावस्थिति का हेतु हो ।

३. इस लक्षण में हमें जो स्वरूपावस्थिति पद दृष्टिगोचर हो रहा है यह भी व्याख्यासापेक्ष है क्योंकि सांख्य एवं योग के सिद्धान्त के अनुसार पुरुष कूटस्थ, नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त है । अतः यहाँ स्वरूपावस्थिति से अभिप्राय यदि स्वरूप से च्युत हुए को पुनः स्वरूप में स्थित मानें तो कूटस्थ नित्यता के सिद्धान्त की हानि होती है । यदि ऐसा न मानें तो स्वरूपावस्थिति से अभिप्राय क्या है इसे जानना जरूरी है उसी को यहाँ स्पष्ट किया गया है—स्वरूपावस्थिति से तात्पर्य औपाधिक रूप की निवृत्ति से है अर्थात् भोगफल में अथवा बन्ध की दशा में पुरुष जो प्रकृति के कर्तृत्व आदि धर्मों को अज्ञानवश अपने में आरोपित किये था, विवेकज्ञान हो जाने पर जब वह जान लेता है कि कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि प्रकृति के धर्म हैं और मैं इनसे भिन्न कूटस्थ नित्य, अपरिणामी एवं मुक्त हूँ तब वह केवली हो जाता है । इस समय प्रकृति उससे अलग हो जाती है और वही पुरुष का स्वरूपावस्थान है । यथा स्फटिक मणि जो कि समीप रखे जपा कुसुम के कारण रक्त वर्ण में रंजित प्रतीत होती है और उस पुष्प के हटा देने पर स्वरूप में स्थित के समान । जबकि वास्तव में दोनों ही दशाओं में स्फटिक मणि में कोई अन्तर नहीं आता परन्तु मात्र अज्ञानवश उसे जपाकुसुम के रंग में रंजित देखकर लाल व बाद में स्वरूपावस्थित के समान जाना जाता है । यही अपने स्वरूप से च्युत न होना है ।

४. अपने लक्षण की पुष्टि हेतु विज्ञानभिक्षु स्मृतिवाक्य उद्धृत करते हैं जहाँ बताया गया है कि मुक्ति किसी नयी अवस्था की प्राप्ति न होकर मात्र इस अवस्था से पूर्व जो आत्म-पदार्थ का अपने वास्तविक रूप कूटस्थ नित्यता आदि रूप में प्रतीत न होकर उससे भिन्न रूप में प्रतीत होना था उस भ्रम का नाश हो अपने वास्तविक रूप में भासित होना ही है । इसके पश्चात् विज्ञानभिक्षु सम्प्रज्ञात एवं



असम्प्रज्ञात दोनों ही किस कारण योग कहे जाते हैं इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि सम्प्रज्ञात नामक योग में क्योंकि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का भली-भाँति साक्षात्कार किया जाता है अतः उसके द्वारा धीरे-धीरे साधक अभ्यास करते-करते वैराग्य के द्वारा व्युत्थान की वृत्तियों को अभिभूत कर निरोध की वृत्तियों को आविर्भूत करता जाता है और अन्ततः पदार्थों के मूल कारण प्रकृति एवं पुरुष का भी विवेकज्ञान प्राप्त कर अविद्यादि क्लेशों से रहित हो जाता है। इस प्रकार यह सम्प्रज्ञात योग क्लेशों का उच्छेदक होने से जो कि योग के विघ्नकारक ही हैं निश्चय ही मोक्ष का हेतु है।

यहाँ जो असम्प्रज्ञात योग को मोक्ष का हेतु बताया गया है वह क्योंकि व्युत्थान के संस्कारों को भी अभिभूत कर दग्धबीजभाव कर देता है जिससे उनके पुनः प्ररोहण की सम्भावना ही नहीं रहती अतः साक्षात् ही मोक्ष का हेतु है। इस असम्प्रज्ञात समाधि की अन्य विशेषता यह है कि इसके उदित होने पर साधक के प्रारब्ध कर्म भी जिनका फल देना अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है सदा के लिए अभिभूत हो जाते हैं। भाव यह है कि इसके द्वारा प्रारब्ध कर्मों का भी क्षय हो जाता है।

५. योगवार्त्तिक यह विज्ञानभिक्षु द्वारा लिखी गयी योगसूत्र एवं भाष्य की विस्तृत एवं सारगर्भित व्याख्या है। इसमें उन्होंने अपने योग-विषयक मत को अत्यन्त ही विस्तृत रूप में तथा सांख्य, वेदान्त एवं योग के समन्वित रूप में प्रस्तुत किया है। इस पर अनेक टीकाएँ एवं उपटीकाएँ लिखी गयी हैं जिनसे इसके महत्त्व को जाना जा सकता है। योगसारसंग्रह को यदि इस उक्त ग्रन्थ का सार माना जाये तो अनुचित न होगा।

६. सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात दोनों ही प्रकार के योग का फल विस्तार सहित तर्क देते हुए संस्कृत मूल के पृष्ठ ३ एवं ४ पर दिया गया है तथा अनुवाद के लिए पृष्ठ ४४, ४५ द्रष्टव्य हैं।

७. योग जैसा कि सूत्रकार एवं विज्ञानभिक्षु के द्वारा बताया गया है चित्तवृत्ति-निरोध ही है जो कि पुरुष की आत्यन्तिक स्वरूपावस्थिति का हेतु है किन्तु हम योग साधनों का अभ्यास करते हुए उन्हें भी योगपद से अभिहित करते हैं, साथ ही ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग आदि में भी योगपद का प्रयोग हुआ है वह तो चित्तवृत्तिनिरोध नहीं है अतः यह लक्षण दूषित है यह शंका हो सकती है, उसके समाधान हेतु ही लेखक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि योग के साधन एवं मोक्ष के उपाय होने के कारण योग के अंगों में व इन ज्ञानयोग आदि में जो योग पद का प्रयोग हुआ है वह गौण ही जानना चाहिये।



८. चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध करना ही योग है, यह जान लेने पर इस पथ के पथिक के लिए यह आवश्यक है कि वह जान ले कि जिन वृत्तियों का निरोध उसे करना है वे कितनी और कौन-कौन सी हैं। योगसूत्रकार ने मात्र इतना कहा है कि 'वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः' (यो० सू० १।५) अर्थात् वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट। ये दोनों ही रूप उनके हो सकते हैं। वास्तव में 'वर्तते अनया रीत्या इति वृत्तिः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर चित्त जिस भी प्रकार से रहता है उसे चित्तवृत्ति कहते हैं। चित्त की वृत्तियाँ असंख्य हैं परन्तु मुख्यरूप से उन्हें आगे वर्णित पाँच भागों में ही अन्तर्निहित जान लेना चाहिये।

९. चित्त के विषयाकाराकारित होने को ही प्रकारान्तर से उसकी वृत्ति कहा गया है। विषय असंख्य होने से वृत्तियाँ भी असंख्य हैं परन्तु यहाँ वर्णित वृत्तियों के प्रकारों को उनके पाँच वर्गीकरण मान लिया जाये तो उचित होगा क्योंकि इन पाँचों प्रकारों में समस्त वृत्तियों का अन्तर्भाव किया जा सकता है।

१०. न्याय दर्शन इच्छा एवं कृति आदि को भी अलग से वृत्ति के रूप में मानता है। विज्ञानभिक्षु ने यहाँ उसी को ध्यान रखते हुए स्पष्ट किया है कि उक्त पाँचों वृत्तियों का निरोध हो जाने पर इच्छा एवं कृति आदि का भी स्वयमेव निरोध हो जाता है। अतः यहाँ उनकी भिन्न रूप से गणना नहीं की गयी है।

११. विभिन्न दर्शनों में प्रमाणों की संख्या भी भिन्न-भिन्न मानी गयी है यथा चार्वाक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। वैशेषिक और बौद्ध अनुमान को भी प्रमाण मानते हैं। सांख्य शब्द सहित तीन प्रमाण मानता है। नैयायिक उपमान सहित चार प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर मीमांसक के मत में अर्थापत्ति को मिलाकर प्रमाण पाँच हैं। भाट्टमीमांसक तथा वेदान्ती अभाव को भी प्रमाण मानते हुए इनकी संख्या छः मानते हैं। योग दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम के भेद से तीन ही प्रमाण मानते हैं। इससे कम प्रमाण मानने से सभी पदार्थों का ज्ञान हो पाना कठिन है तथा अन्य प्रमाण मानना अनावश्यक है क्योंकि अन्य दर्शनों को अभिमत उपमान, अर्थापत्ति एवं संभव आदि का अनुमान में तथा ऐतिह्य ए चैष्टा आदि का शब्द प्रमाण में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अभाव तो स्पष्टतः प्रत्यक्ष के अन्तर्गत लिया ही जा सकता है।

१२. प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहा जाता है इस विषय में कहा गया है कि इन्द्रिय के द्वारा जो बुद्धि की यथार्थ वृत्ति होती है उसे ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। यह कथन व्याख्यासापेक्ष है क्योंकि इस दर्शन में प्रत्यक्ष की एक प्रक्रिया विशेष बतायी गयी है जिसके अनुसार चित्त इन्द्रियप्रणालिका के द्वारा शरीर से बाहर जाकर



विषय से सम्बद्ध हो विषयाकार में परिणत हो जाता है, तदनन्तर उसका प्रतिबिम्ब लेकर वह वापिस आता है जिस पर पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। तब ही पुरुष बोध होता है। विज्ञानभिक्षु इसमें एक कड़ी और जोड़ते हुए लिखते हैं कि पुरुष प्रतिबिम्बित पदार्थ का पुनः पुरुष में प्रतिबिम्ब पड़ता है तब ही ज्ञान होता है इसे परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव कहा गया है। क्योंकि इसके द्वारा ही पदार्थ के यथार्थ विषय का बोध होता है, अतः यही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

१३. ईश्वर का क्योंकि अन्य दृश्य-पदार्थों की भाँति इन्द्रिय-सामान्य के द्वारा साक्षात्कार नहीं किया जा सकता अतः यहाँ कहा गया है कि ईश्वर की सत्ता का निश्चय करने वाली जो वृत्ति है, यदि उसे हम प्रमाण-वृत्ति में सम्मिलित करना चाहते हैं तो उसका जातित्व स्वीकार करना होगा।

१४. विषय के यथार्थ ज्ञान की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए बताया गया है कि चित्त इन्द्रिय द्वारा बाहर निकल कर विषयाकाराकारित हो जाता है उसी को यहाँ और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि बुद्धि की वृत्ति दीपक की शिखा के अग्रभाग के समान है। जिस प्रकार दीपक की शिखा के अग्रभाग द्वारा दीपक का कार्य प्रकाश करना मुख्य रूप से सम्पन्न होता है उसी प्रकार बुद्धि भी अपनी वृत्ति के द्वारा ही व्युत्थान एवं पदार्थ में एकाग्रता रूप कार्य करती है जब चित्त विषय के सम्पर्क में आता है तब वह वृत्ति ही विषयाकार में परिणत होती है। यह विषयाकार परिणति किस प्रकार होती है, इसे स्पष्ट करने के लिए लेखक उदाहरण देते हैं कि जिस प्रकार पिघला हुआ ताँबा जब साँचे में डाला जाता है तब वह उस साँचे के आकार-प्रकार में पूर्ण रूप से परिणत हो जाता है, उसी प्रकार यह चित्तवृत्ति भी विषय के साथ सम्बद्ध होने पर उसी के आकार वाली हो जाती है।

१५. ऊपर जो स्पष्टीकरण दिया गया है कि बुद्धि की वृत्ति ही विषय से सम्पर्क करने के लिए जाती है उस अपने कथन की पुष्टि विज्ञानभिक्षु सांख्य के एक सूत्र द्वारा करते हैं जिसमें इसे ही विषय की ओर जाने एवं सरकने वाला बताया गया है वह सांख्यसूत्र के पाँचवें अध्याय का १०७वाँ सूत्र है परन्तु कुछ विद्वान इसे प्रक्षिप्त मानते हैं।

इस सूत्र में बुद्धि की वृत्ति का एक वैशिष्ट्य भी बताया गया है कि यह वृत्ति न तो बुद्धि का अंश है जिस प्रकार की चिनगारी अग्नि का अंश होती है क्योंकि उस दशा में यह बुद्धि से विभक्त होने के कारण उसका विषय से सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकती और न ही इच्छा आदि के समान यह उसका गुण है जिस प्रकार कि रूप आदि अग्नि के गुण होते हैं क्योंकि वैसा मानने पर वह अक्रिय



हो जाती है तब उसमें सर्पण रूप क्रिया नहीं हो सकती अतः इसे इनसे भिन्न तत्त्वान्तर अर्थात् धन का परिणाम-विशेष ही मानना होगा ।

१६. वृत्ति का जो पुरुष में प्रतिबिम्ब है अर्थात् विषयाकाराकारित वृत्ति का प्रतिबिम्ब जो कि पुरुष प्रतिबिम्ब सहित पुनः पुरुष में पड़ता है जैसा कि टिप्पणि<sup>१२</sup> में स्पष्ट किया जा चुका है, वही प्रमाण का फलरूप प्रमा है उसी को पौरुषेय-बोध भी कहा गया है ।

कैवल्यावस्था में पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है परन्तु व्युत्थान दशा में वह कैसा होता है ? इस जिज्ञासा को ध्यान में रखते हुए ही योगसूत्रकार पतञ्जलि ने 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (यो० सू० १।४) कहा है अर्थात् उस दशा में वह वृत्ति के समान रूप वाला प्रतीत होता है ।

यहाँ जो बताया गया है कि प्रमा पुरुष में वृत्ति का प्रतिबिम्बित होकर भासना है यही वह वृत्तिसारूप्य है, ऐसा विज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट किया है ।

१७. योगसूत्रकार ने किसी भी प्रमाण का लक्षण नहीं किया है । योगाभिमत उनके स्वरूप का बोध हमें व्यासदेव के भाष्य द्वारा होता है । अनुमान का लक्षण करते हुए वह दो बातों का बर्णन करते हैं । प्रथम तो यह कि जो समान-जातीय में रहने वाला तथा भिन्न जातीय से व्यावृत्त है वही अनुमान है, दूसरा यह पदार्थ के सामान्य रूप को ही ग्रहण करने वाला है विशेष को नहीं । इस अनुमान के ज्ञान में मुख्य सहायक कौन है यह हमें व्यासभाष्य से भी स्पष्ट नहीं होता उसी कमी की पूर्ति विज्ञानभिक्षु ने यहाँ की है । वह लिखते हैं कि 'लिङ्ग के द्वारा होने वाला ज्ञान-अनुमान है' अर्थात् किसी चिह्न विशेष को देखकर उसके साथ अविनाभावी रूप से रहने वाले पदार्थ का अनुमान करना । यथा धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान करना क्योंकि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग अवश्य होती है यथा रसोइधर में हम देखते हैं (अन्वय व्याप्ति) और इसके विपरीत जहाँ-जहाँ आग नहीं होती वहाँ धुआँ कदापि नहीं हो सकता यथा तालाब में (व्यतिरेक-व्याप्ति) । इस प्रकार इस चिह्न विशेष को देखकर अन्वय एवं व्यतिरेक व्याप्ति की सहायता से जो पदार्थ-विशेष का सामान्य विषयक ज्ञान होता है वही अनुमान प्रमाण है ।

१८. जब किसी पदार्थ की सत्ता विषयक चित्तवृत्ति का माध्यम शब्द होते हैं तो वह शब्द प्रमाण जन्य जाननी चाहिये । यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि किसी भी व्यक्ति द्वारा कही गयी बात शब्द प्रमाण नहीं कहलाती । जिस कथन का वक्ता श्रद्धेय हो तथा बात जिसे वह कह रहा है वह उसके द्वारा स्वयं के प्रत्यक्ष अथवा अनुमान पर आधारित हो ।

प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द तीनों ही प्रमाणों का फल पौरुषेय-बोध रूप प्रमा है यह यहाँ और जान लेना चाहिये ।



१९. विपर्यय वृत्ति पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को ग्रहण न कर किसी-दोष-विशेष के कारण उससे भिन्न रूप का बोध कराती है। इसकी विशेषता यह है कि बाद में प्रमाण द्वारा इस मिथ्याज्ञान का बाध हो जाता है यथा नेत्र-दोष के कारण एक चन्द्रमा के स्थान पर दो चन्द्रमा दृष्टिगोचर होने लगते हैं। यह विपर्यय वृत्ति ही है जिसका बाध बाद में एक चन्द्रमा के दर्शन द्वारा हो जाता है।

२०. विकल्प—इस वृत्ति का लक्षण योगसार में नहीं दिया गया है। यहाँ मात्र उदाहरण ही प्रस्तुत किए गए हैं। इसे अच्छी प्रकार समझने के लिए सूत्रकार द्वारा दी गयी परिभाषा की सहायता आवश्यक है। वह लिखते हैं—‘शब्दज्ञानानुपाती वस्तुगुण्यो विकल्पः’ (यो० सू० १।९) अर्थात् वस्तु के अभाव में मात्र शब्द के द्वारा ही जो एक पदार्थ विषयक चित्तवृत्ति बन जाती है वही विकल्प-वृत्ति है। यहाँ जो पदार्थ का अभाव कहा गया है उससे तात्पर्य उस पदार्थात्मक ज्ञान से है जिसकी सत्ता ही नहीं है। उदाहरण के रूप में यहाँ ‘राहोः सिरः’ तथा पुरुषस्य चैतन्यम्’ दिए गए हैं। इन वाक्यांशों को सुनकर राहु और उसका सिर दो भिन्न पदार्थ विषयक चित्तवृत्ति बनती हैं यही बात ‘पुरुष का चैतन्य’ में भी है, जबकि यथार्थ में हम जानते हैं कि ये भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं हैं क्योंकि दैत्य-विशेष के सिर वाले भाग को ही राहुपद से अभिहित किया जाता है तथा चैतन्य पुरुष से भिन्न कोई उसका गुण आदि नहीं है वरन् चैतन्यमात्र ही पुरुष है।

२१. विपर्यय एवं विकल्प दोनों ही पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का बोध न करा सकने वाली वृत्तियाँ हैं। अतः प्रायः समान ही प्रतीत होती हैं इनमें अन्तर कर पाना कभी-कभी कठिन प्रतीत होने लगता है। पदार्थ के यथार्थ विषयक बोध को न कराने वाली होने पर भी दोनों में भेद है इसे ही यहाँ स्पष्ट किया गया है। हम देखते हैं कि विपर्यय, पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का बोध होने पर निवृत्त हो जाता है, उस पदार्थ में भ्रम होने पर जिस प्रकार का व्यवहार किया जाता था यथार्थज्ञान होने पर तत्सम्बन्धित व्यवहार बदल जाता है। यथा रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होने पर व्यक्ति उससे डरकर भागता है पर जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि वह सर्प नहीं वरन् रज्जु है तो वह नहीं डरता। परन्तु विकल्प के विषय में ऐसा नहीं होता क्योंकि यह जानने पर भी कि दैत्य विशेष का सिर ही राहु कहा जाता है, राहु का सिर यह प्रयोग सर्वथा अनुचित है हम निरन्तर उस रूप में ही व्यवहार करते चले आ रहे हैं।

२२. सांख्य एवं योग दोनों ही दर्शन सत्कार्यवादी हैं। जिसका आशय यह है कि उनके मत में पदार्थ त्रिकाल सत् है, उसका मात्र रूप परिवर्तन होता है सर्वथा नवीन पदार्थ की न उत्पत्ति होती है और न ही पदार्थ का नाश।



अतः स्पष्ट है कि ये अभाव जैसी किसी स्थिति को नहीं मानते। यही वृत्ति-निरोध के विषय में भी जानना चाहिए। निरोधकाल में वृत्तियों का सर्वथा नाश नहीं होता वरन् वे अभिभूत होकर चित्त में पड़ी रहती हैं।

२३. वृत्तियों का लय होता है अभाव नहीं, इस बात की सिद्धि में लेखक एक अन्य कारण भी देते हैं वह यह कि जब व्युत्थान की वृत्तियों का अभिभव कर दिया जाता है तो उन अभिभूत हुई वृत्तियों के संस्कार चित्त में विद्यमान रहते हैं जिससे अवसर पाकर वे पुनः आविर्भूत हो जाते हैं। यदि उस निरोध के द्वारा हम वृत्तियों का सर्वथा नाश होना मानेंगे तो फिर इन वृत्तियों के द्वारा संस्कार कैसे उत्पन्न हो सकेंगे। परन्तु हम जानते हैं कि इनके द्वारा संस्कार तो उत्पन्न होते ही हैं अतः स्पष्टतः समझ लेना चाहिए कि निरोध से तात्पर्य यहाँ अभाव न होकर भावरूप लय ही है।

२४. जो पदार्थ हमें सुखदायक लगता है उसकी ओर चित्त की प्रवृत्ति होती है और जो दुःखदायक, उससे निवृत्ति तथा जब व्यक्ति राग एवं द्वेष दोनों से ऊपर उठ जाता है अर्थात् विषयों में दोष देखने पर उनके वास्तविक स्वरूप को जान लेता है तो फिर वह उनसे उदासीन हो जाता है। पदार्थ को देखकर उससे द्वेष के कारण जो उससे चित्त की निवृत्ति है उसे यदि प्रवृत्ति का नष्ट हो जाना अथवा पूर्णतः अभाव मानेंगे तो फिर रागात्मक पदार्थ को देखकर जो पुनः तद्विषयक प्रवृत्ति होती है वह कैसे हो सकेगी। इस कारण निवृत्ति के पश्चात् तथा कभी-कभी उदासीनता के पश्चात् भी जो चित्त की पुनः प्रवृत्ति होती है वह अभाव मानने पर नहीं हो सकेगी। अतः निरोध से तात्पर्य चित्तवृत्ति के अभिभव से ही लेना चाहिए।

२५. एकाग्रवस्था में हम देखते हैं कि जैसे-जैसे व्युत्थान की वृत्तियों का अभिभव होता जाता है वैसे वैसे निरोध की वृत्तियाँ आविर्भूत होती जाती हैं। धीरे-धीरे एक स्थिति ऐसी आती है जब वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है। उस अवस्था में यदि निरन्तर अभ्यास न किया जाए तो व्युत्थान की वृत्तियाँ पुनः आविर्भूत हो जाती हैं अतः निरोधकाल में निरोध के संस्कारों द्वारा व्युत्थान के संस्कारों को भी दबा दिया जाता है। अन्त में विवेकज्ञान रूप अग्नि के द्वारा उन संस्कारों को भी दग्धवीजभाव कर दिया जाता है जिससे वे पुनः अंकुरित होने में समर्थ नहीं होते। इस अन्तिम दशा से पूर्व जब निरोध के संस्कारों द्वारा व्युत्थान के संस्कारों को क्षीण किया जाता है तो उन निरोध संस्कारों की वृद्धि होती है। यह निरन्तर होने वाली योग-वृद्धि द्वारा जाना जा सकता है अतः वृत्तियों के निरोध से तात्पर्य यदि उनका अभाव लिया जाएगा तो फिर उक्त अनुभव से विरोध होगा। इस कारण वृत्ति-निरोध, उनका अभिभूत होकर चित्त में पड़े रहना ही है।



२६. 'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्' (यो० सू० ४।२३) इस सूत्र के द्वारा पतञ्जलि ने योगाभिमत चित्त की सर्वार्थता का वर्णन किया है। सर्वार्थता से तात्पर्य यह है कि चित्त में ही समस्त विषय अवभासित होते हैं और द्रष्टा पुरुष भी इसमें प्रतिबिम्बित होता है अतः यह द्रष्टा एवं दृश्य दोनों द्वारा उपरञ्जित होने की सामर्थ्य से युक्त होने के कारण ही सर्वार्थ कहा जाता है। भाव यह है कि हमें कभी तो 'मैं जाता हूँ' इस प्रकार का बोध होता है और कभी 'मैं शरीर हूँ' इस प्रकार का। ये दोनों प्रकार के बोध चित्त के दोनों रूपों में परिणत होने के कारण ही हैं।

२७. चित्त को योग-दर्शन में विभु माना गया है। इसका विशद वर्णन इस पुस्तक के चतुर्थ अंश में विस्तार-पूर्वक किया गया है।

२८. चित्त क्योंकि विभु है अतः सब पदार्थों के सर्वदा साक्षात्कार की सामर्थ्य रखता है परन्तु यह अनुभव सिद्ध है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा नहीं होता अर्थात् कोई भी सामान्य अयोगी पुरुष सब वस्तुओं को देख सके यह सम्भव नहीं है। इसका कारण है कि चित्त पर पाप आदि के कारण तमोगुण का आवरण पड़ा रहता है। यहाँ बताया गया है कि जब निरोध द्वारा उस तमोगुण का क्षय हो जाता है तब चित्त बिना किसी प्रयास के ध्येय वस्तु का पूर्णतः साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है।

२९. जिस प्रकार सम्प्रज्ञात योग ध्येय पदार्थ का सम्पूर्ण साक्षात्कार कराता है उस प्रकार असम्प्रज्ञात में नहीं होता क्योंकि समस्त ध्येय विषयों का साक्षात्कार कर लेने पर विवेकज्ञान के साक्षात्कार के उपरान्त उसके प्रति भी जब पर वैराग्य हो जाता है तभी असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है। अतः इस अवस्था में ध्येय विषय का अभाव रहने से ही इसे कुछ ज्ञात न कराने वाला कहा जाता है। चित्त की वृत्ति ध्येय विषयक ही होती है क्योंकि इस अवस्था में समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है अतः मात्र संस्कार ही अवशिष्ट रहते हैं।

३०. जैसा कि हम टिप्पणी<sup>२५</sup> में स्पष्ट कर चुके हैं कि वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाने पर भी यदि उनके संस्कारों को दग्धबीजभाव न किया जाए तो पुनः व्युत्थान की सम्भावना रहती है उस व्युत्थान का आधार उसके अब विद्यमान संस्कार हैं क्योंकि संस्कारों से ही वृत्तियाँ बनती हैं। अतः यहाँ कहा गया है कि वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाने पर इस अवस्था में चित्त संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाता है। यदि हम इस काल में संस्कारों की सत्ता नहीं मानेंगे तो निरोध के पश्चात् जो कभी-कभी व्युत्थान देखा जाता है, वह सिद्ध नहीं हो पायेगा।

३१. भाव यह है कि असम्प्रज्ञात काल में प्रकृति पुरुष का विवेकज्ञान रूप जो तत्त्वज्ञान है तद्विषयक वृत्ति का भी निरोध हो चुका होता है परन्तु उस



तत्त्वज्ञान के संस्कार यहाँ विद्यमान होते हैं। इसमें तत्त्वज्ञान के संस्कार यहाँ विद्यमान रहते हैं कहने का उद्देश्य प्रलयकाल में होने वाले वृत्तिनिरोध से वैभिन्य दिखाना है क्योंकि उस दशा में भी वृत्तियों का पूर्ण निरोध तो रहता है परन्तु विवेकज्ञान के संस्कार नहीं होते।

३२. समापत्ति पदार्थ विषयक यथार्थ ज्ञान ही है जब अभ्यास द्वारा विभिन्न पदार्थों पर संयम करते हुए तथा भूत एवं इन्द्रियों की पाँचों अवस्थाओं पर संयम करने से साधक को भूतजय एवं इन्द्रियजय रूप सिद्धि प्राप्त होती है। यद्यपि सिद्धियाँ साधक में श्रद्धा उत्पन्न करने में सहायक हैं तथापि इनका प्रयोग उसे नहीं करना चाहिए क्योंकि तब वह अपने योगमार्ग पर उतनी तीव्र गति से नहीं बढ़ पायेगा। फिर भी यदि उसकी कामना हो तो वह स्वेच्छा से विभिन्न भोगों को प्राप्त कर सकता है। इन सिद्धियों का विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ के तृतीय अंश में किया जाएगा।

३३. इस संदर्भ में योगवार्त्तिक में योगसूत्र १।१६ की व्याख्या द्रष्टव्य है।

३४. यह शंका की जा सकती है कि 'योगाग्नि...' यह श्रुतिवाक्य सम्प्रज्ञात योग-परक है क्योंकि इसके साथ ही कहा है कि निर्वाण को सिद्ध करने वाला ज्ञान बलात् ही उत्पन्न हो जाता है। उक्त शंका का मुख्य आधार द्वितीय पंक्ति है क्योंकि विवेकज्ञान जो कि निर्वाण का हेतु है वह सम्प्रज्ञात योग का फल है अतः उससे पूर्व योगाग्नि द्वारा समस्त पापों से उत्पन्न संस्कारों को नष्ट करने वाला बताया गया है। परन्तु इन दोनों वाक्यों की एकवाक्यता नहीं मानी जा सकती, अतः 'योगाग्नि...' इस श्रुति को असम्प्रज्ञात योगपरक ही जानना होगा जैसा कि आगे की व्याख्या से स्पष्ट भी हो जाता है।

३५. कर्मवाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है, हम जो कार्य करते हैं उनके संस्कार हमारे चित्त में जमा हो जाते हैं वही कर्माशय है। इस कर्माशय में कर्मों की प्रबलता के आधार पर ही हमें जन्म, आयु एवं भोगों की प्राप्ति होती है। परन्तु इस कर्माशय के मूल में जब क्लेश आदि होते हैं तब ही ये फल देने में समर्थ होते हैं अन्यथा नहीं अर्थात् विवेकज्ञान रूप अग्नि के द्वारा जब क्लेशों को दग्धबीजभाव कर दिया जाता है तब ये फल नहीं देते।

३६. योगसूत्र १।५० में बताया गया है कि निरोधकाल में जब चित्त-वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है तब चित्त संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाता है। उस काल में निरोध के संस्कारों द्वारा व्युत्थान के संस्कारों का अभिभव किया जाता है जिससे कि पुनः व्युत्थान की वृत्तियों का उदय न हो सके।



३७. वासना के रहने पर ही कर्म अपना फल देने में समर्थ होते हैं वासना से सम्बन्धित जानकारी योगसूत्र के २।१३ तथा ४।१०, ११ से प्राप्त की जा सकती है ।

३८. भाव यह है कि वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात योग काल में यदि किसी साधक ने भगवान् विष्णु की मूर्ति पर चित्त को एकाग्र किया था और उसे उसका सम्पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है तो वह विचारानुगत की ओर भ्रमसर होगा । जैसा कि सूत्र द्वारा ही बताया गया है कि सूक्ष्म विषय-विषयक सम्प्रज्ञात समाधि विचारानुगत है । तदनुसार साधक को चाहिए कि वह विष्णु मूर्ति के ही सूक्ष्म विषय तन्मात्राओं पर चित्त को एकाग्र करे, अन्य किसी के नहीं इसके दो मुख्य कारणों का वर्णन यहाँ किया गया है प्रथम तो यह कि पहले साधक ने जिस जिस विषय पर चित्त को एकाग्र किया था उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में पूर्ण उपासना किए बिना ही उसे छोड़ देने का दोष लगेगा तथा एक आकार-प्रकार पर क्योंकि चित्त एकाग्र हो चुका होता है अतः उसके ही सूक्ष्म रूप में वह आसानी से एकाग्र हो सकता है, अन्य किसी पदार्थ के सूक्ष्म रूप पर यदि चित्त को केन्द्रित किया जाए तो सम्भव है कि चित्त वहाँ केन्द्रित न हो सके और पुनः विक्षेप को प्राप्त हो जाए ।

३९. वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधिकाल में साधक को पदार्थ-का पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है अर्थात् वह पहले क्या था, किन पदार्थों से बना है उसका भविष्य क्या है । उसके वे गुण व दोष जो सामान्य रूप से देखने में नहीं पता चलते उनका भी साक्षात्कार इस वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा हो जाता है ।

४०. सांख्य एवं योग दोनों ही दर्शन सृष्टि के मूल में प्रकृति एवं पुरुष दो तत्त्वों को मानते हैं । प्रकृति से महद्-अहंकार-पञ्चतन्मात्र-एकादश इन्द्रियाँ व पञ्चमहाभूत क्रमशः आविर्भूत होते हैं । तदनन्तर इन पञ्चमहाभूतों से ही समस्त पदार्थों का निर्माण होता है । अतः शरीर तथा घर आदि जो विभिन्न भौतिक पदार्थ हैं वे इन छव्वीस तत्त्वों के रूप परिवर्तन हैं क्योंकि यहाँ पदार्थ अपने कार्य में अन्य रूप में परिवर्तित हुआ ही माना जाता है अतः कोई भी पदार्थ हम लें उसमें उससे अन्य सूक्ष्म तत्त्वों का समावेश निश्चय ही होता है । यही कारण है कि उस हरिमूर्ति आदि स्थूल तत्त्व में भी सूक्ष्म दृष्टि रखते हुए उसे विचारानुगत का ध्येय बनाया जा सकता है ।

४१. प्रकृति सत्त्वगुण, रजोगुण व तमोगुण का सम्मिश्रण है अतः उससे निर्मित जितने भी पदार्थ हैं उनमें ये तीनों गुण अनुस्यूत हैं, सत्त्वगुण सुखात्मक तथा रजोगुण दुःखात्मक है और तमोगुण मोहात्मक; अतः तीनों के सम्मिश्रण से बने पदार्थ को मात्र सुखात्मक मानना अनुचित है ।



४२. जब साधक आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधिकाल में चौबीस तत्त्वों में विद्यमान सुखरूप पुरुषार्थ पर चित्त को एकाग्र करता है तो वह अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे यह साक्षात्कार कर लेता है कि प्रत्येक पदार्थ क्योंकि त्रिगुणात्मक है अतः मात्र सुखात्मक कुछ भी नहीं है। जिसे मैं मात्र सुख समझता रहा वह भी दुःखयुक्त ही है जब साधक को इस प्रकार का अनुभव हो जाता है तो पदार्थों में मात्र सुख देखने से जो राग था वह समाप्त हो जाता है। वह उससे अग्रिम स्थिति अस्मिता अनुगत की ओर अग्रसर हो जाता है अर्थात् प्रकृति से व्यतिरिक्त पुरुष पर ही चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न करने लगता है।

४३. अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग में जैसा कि पहले के वर्णन से स्पष्ट है, साधक मात्र पुरुष या आत्मस्वरूप पर ही चित्त को केन्द्रित करता है। निरन्तर अभ्यास के कारण वह इस अवस्था से पूर्व जो अविद्या के कारण प्रकृति के गुणों को अपने में आरोपित किए था उनका विवेक कर लेता है और अपने कूटस्थ विभु, नित्य, अपरिणामी स्वरूप को जानकर यह भी जान लेता है कि 'मैं, इस प्रकृति के परिणामरूप जो देह, इन्द्रियाँ आदि हैं उनसे भिन्न हूँ; न मैं कर्ता हूँ और न भोक्ता।

४४. जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों ही इस अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग के विषय होते हैं यह मत मात्र विज्ञान भिक्षु का ही है क्योंकि वाचस्पति मिश्र ग्रहीता पुरुष एवं बुद्धि में एकात्मकता को ही अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग का विषय मानते हैं।

४५. परमात्मा-पुरुष विशेष है जिसे आसानी से जाना व समझा नहीं जा सकता। परन्तु जो जीवपद से अभिमत है वह अज्ञानवश बन्धन को प्राप्त पुरुष है। जब प्रकृति-पुरुष का विवेकज्ञान हो जाता है तब उस पुरुष के वास्तविक अपरिच्छिन्न कूटस्थ आदि रूप का साक्षात्कार हो जाता है। वही साधक का अपना वास्तविक स्वरूप होने से आत्मसाक्षात्कार है।

४६. योगसूत्र १।१६, ३।५६ तथा उनकी व्याख्या में सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के रूप में प्रकृति एवं पुरुष का विवेक ही बताया गया है जो कि चरमपरिणति मानी जा सकती है।

४७. यह योगदर्शन के प्रथम अध्याय का २३वाँ सूत्र है। इसकी विस्तृत व्याख्या इस ग्रंथ में ही ईश्वर शीर्षक से की जाएगी।

४८. समापत्ति—सम्प्रज्ञातकाल में जब चित्त विषयाकाराकारित हो जाता है तब विषय का साक्षात्कार होता है। यह विषय का साक्षात्कारात्मक ज्ञान ही समापत्ति कहा जाता है। इनके भेदों के विषय में मतभेद हैं परन्तु ग्राह्य, ग्रहण एवं ग्रहीता के भेद से मुख्य रूप में तीन भेद कर पुनः ग्राह्य के स्थूल, सूक्ष्म एवं सवितर्क,



निवृत्तिकं तथा सविचार निर्विचार यह वर्गीकरण तो स्वयं सूत्रकार ने ही किया है अतः निर्विवाद रूप से हम छः प्रकार की समापत्तियाँ तो मान ही सकते हैं ।

४९. जब पदार्थ का ज्ञान शब्द, अर्थ एवं ज्ञान के विकल्प से युक्त हो तो सवितकं समापत्ति होती है । यह विकल्प क्या है उसी की यहाँ व्याख्या की जा रही है । 'हरि' यह पद सुनते ही हमें एक साथ ही हरि यह पद, उससे अभिप्रेत अर्थ अर्थात् व्यक्ति विशेष तथा उसका ज्ञान कि 'मैं हरि को जान रहा हूँ' होता है अतः हरि यह शब्द भी हुआ और अर्थ भी तथा ज्ञान भी इन तीनों का विश्लेषण करते हुए निरन्तर अभ्यास के पश्चात् ही भेद किया जा सकता है अन्यथा नहीं, अतः प्रारम्भिक दशा में इस प्रकार 'हरि' इस पद विशेष का उच्चारण करते ही जो शब्द, अर्थ एवं ज्ञान के विकल्प से युक्त बोध होता है वही सवितकं समापत्ति का विषय है ।

५०. विशेषण से रहित आत्मा के ज्ञान को ही निर्विकल्पक आत्मज्ञान मानते हैं विज्ञानभिक्षु के मत में यह समीचीन नहीं है । 'आजकल के ताकिक' कहकर लेखक ने इन्हें ही इंगित किया है ।

५१. इस सवितकं समापत्ति को शब्दादि विकल्प से युक्त कहा गया है । लेखक का मत है कि शब्दादि विकल्प को यहाँ उपलक्षणमात्र जानना चाहिए क्योंकि इस काल में पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार पूर्ण विशुद्ध रूप में नहीं हो पाता ।

५२. कहा गया है कि निर्विचार समापत्ति का वैशारद्य होने पर अर्थात् अन्य सभी प्रकार की वृत्तियों का पूर्ण अभिभव होने पर जब निर्विचार की वृत्ति का ही अभिभव एवं उसी का उदय होता है तब अघ्यात्म प्रसाद होता है । यही ऋत-म्भरा-प्रज्ञा है अर्थात् इस दशा में साधक इस यथार्थ ज्ञान वाली ऋतम्भरा (यथार्थ) प्रज्ञा (ज्ञान) से युक्त हो जाता है । यह दशा ही विज्ञानभिक्षु ने मधुमती नामक द्वितीय कोटि के साधक की मानी है ।

५३. यहाँ पर धर्ममेघ समाधि का व्युत्पत्ति निमित्तक अर्थ बताते हुये विज्ञानभिक्षु ने लिखा है—क्योंकि यह सर्वज्ञतादि प्रकृष्ट धर्मरूप मेघ की वर्ण करती है अतः धर्ममेघ कही जाती है । भाव यह है कि उक्त समाधि की सिद्धि होने पर साधक को सर्वज्ञता आदि सिद्धि विशेष की प्राप्ति हो जाती है जो सर्वोच्च सिद्धि मानी जाती है ।

मात्र इस कारण ही यह धर्ममेघ कही जाती हो ऐसा नहीं है स्वयं विज्ञान-भिक्षु ने ही योगवार्त्तिक में जो व्युत्पत्ति दी है वह अधिक उपयुक्त है । वहाँ वह लिखते हैं कि क्लेश, कर्म आदि को जड़ से उखाड़ देने वाले धर्म की वर्णा करने वाला होने से ही यह धर्ममेघ कहलाती है ।



५४. यहाँ बताया गया है कि विवेकख्याति के सुदृढ़ हो जाने पर ही प्रकृति एवं पुरुष दोनों अपने-अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाते हैं। वही कैवल्य है जिसे दोनों प्रकार की मुक्ति पद से यहाँ संकेतित किया गया है। सूत्र ३।५५ के भाष्य में जैसा कि ऊपर भी बताया गया है स्पष्ट है कि इस विवेकख्याति से उत्पन्न सर्वज्ञता आदि सिद्धि की प्राप्ति हो अथवा न हो साधक को इस विवेकज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। यही जीवन्मुक्ति है तथा प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने पर स्वयं विदेह-मुक्ति हो जाती है। यही मत सांख्य-कारिका ६७-७८ में तथा सांख्य-सूत्र ३।२३, ७७-८४ में भी अभिव्यक्त किया गया है।

५५. भवप्रत्यय—विदेह एवं प्रकृतिलयों को होने वाला योग भवप्रत्यय कहलाता है। यह यहाँ असम्प्रज्ञात के भेद रूप में वर्णित है क्या यह असम्प्रज्ञात योग माना जा सकता है इसके विवेचन के लिए हमारी पुस्तक 'पातञ्जल योगसूत्र एक समालोचनात्मक अध्ययन' द्रष्टव्य है।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार 'भव अर्थात् जन्ममात्र जिसका कारण है' अर्थात् यह समाधि जन्म से ही विदेह एवं प्रकृतिलयों को प्राप्त होती है। परन्तु वाचस्पति मिश्र ने इसकी व्याख्या भिन्न रूप में की है—'भवन्ति जायन्तेऽस्यां जन्तव इति भवोऽविद्या इस व्युत्पत्ति के आधार पर भव का अर्थ अविद्या करते हुए वह सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'विदेह एवं प्रकृतिलयों की निरोध समाधि अविद्यामूलक है क्योंकि इसको प्राप्त कर एक निश्चित अवधि के उपरान्त पुनः इस संसार में आना पड़ता है।



## द्वितीय अंश

१. योगसूत्र में साधक भेद से साधनों का वैभिन्न्य पाया जाता है परन्तु इसका स्पष्ट वर्गीकरण स्वयं सूत्रकार द्वारा नहीं हुआ है। विज्ञानभिक्षु ने ही उत्तम, मध्यम व अधम के भेद से तीन श्रेणियों का नामोल्लेख किया है जबकि अन्य व्याख्याकारों ने समाहित चित्त व व्युत्थित चित्त वाले दो प्रकार के ही साधक माने हैं।

२. पातञ्जल योगसूत्र के द्वितीय अध्याय के प्रथम सूत्र में ग्रन्थकार ने क्रियायोग का वर्णन किया है जिसकी अवतरणिका भाष्यकार व्यास ने इस रूप में की है कि समाहित चित्त वाले साधकों हेतु योग साधनों का वर्णन कर दिया गया है अब व्युत्थित चित्त वाले साधकों हेतु योगसाधनों का वर्णन किया जा रहा है। स्पष्ट है कि इससे पूर्व वर्णित जो अभ्यास व वैराग्य है वह समाहितचित्त वाले साधकों के हेतु ही है।

३. पातञ्जल ने स्थिति के निमित्त किये गये यत्न को अभ्यास कहा है। चित्त का वृत्तिरहित प्रवाह स्थिति है तथा उसके लिए जो उत्साह एवं वीर्य है वही प्रयत्न है। भाव यह है कि चित्त से राजस एवं तामस वृत्तियों का जब पूर्ण अभिभव हो जाता है, मात्र विवेकख्याति रूप सात्त्विक वृत्ति ही निरन्तर प्रवाहित होती रहती है, तब वह प्रशान्तवाहिता स्थिति कहलाती है। उस स्थिति की प्राप्ति हेतु जो भी वीर्य अथवा उत्साह या प्रयत्न किया जाता है उसे ही अभ्यास कहते हैं।

४. लौकिक एवं पारलौकिक विषयों में अर्जन, रक्षण एवं क्षय आदि दोष देखकर जो उनके प्रति अलंबुद्धि है अर्थात् उन्हें प्राप्त करने की इच्छा का न होना है वही वैराग्य है, यह वैराग्य का सामान्यतः लक्षण किया जाता है। जब विवेकख्याति रूप सात्त्विक वृत्ति को भी त्रिगुणात्मक जानकर उसके प्रति भी वैराग्य हो जाता है तब वह पर-वैराग्य कहलाता है।

५. अपर एवं पर के भेद से वैराग्य दो प्रकार का है। योगसूत्रकार ने अपर वैराग्य का नाम संकीर्तन नहीं किया है वरन् इस अपर वैराग्य की अन्तिम अवस्था वशीकार संज्ञक वैराग्य का ही वर्णन किया है। वह लिखते हैं कि दृष्ट अर्थात् लौकिक व आनुश्रविक अर्थात् पारलौकिक विषयों के प्रति जो वितृष्णा है



वही वशीकार संज्ञक वैराग्य है और आगे वर्णित वैराग्य को उन्होंने पर कहा है जिससे स्पष्ट है कि यह अपर है। सम्पूर्ण लौकिक एवं पारलौकिक विषयों के प्रति एक साथ ही वस्तुष्य नहीं हो सकता। अतः उस स्थिति से पूर्व साधक जिन वैराग्य की अवस्थाओं से गुजरता है उसे चार भागों में बाँटा गया है यत्मान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय एवं वशीकार। अन्तिम दशा तक किस प्रकार पहुँचा जा सकता है इसके लिए पहले की तीनों अवस्थाओं को जानना भी आवश्यक है। अतः लेखक ने यहाँ उन तीनों पूर्व की वैराग्य अवस्थाओं का वर्णन किया है।

६. योगसूत्र में अपर वैराग्य की जो मात्र अन्तिम दशा का ही वर्णन किया गया है उसका कारण वहाँ वर्णित साधक की अन्तिम श्रेणी है। भाव यह है कि योगसूत्र के प्रथम पाद में उत्तम कोटि के साधकों के हेतु जिन्होंने पूर्व जन्मों में अभ्यास द्वारा चित्त को पर्याप्त सीमा तक समाहित कर लिया है योगसाधन के रूप में अभ्यास एवं वैराग्य वर्णित किये गये हैं। अतः यह मानते हुए कि ये साधक यत्मान, व्यतिरेक व एकेन्द्रिय की अवस्थाओं को पार कर चुके हैं इन योगारूढ़ साधकों को उन सबको जानने की आवश्यकता ही नहीं है, अतः यहाँ मात्र वशीकार संज्ञक वैराग्य का ही वर्णन किया गया है।

६. विवेकख्याति रूप सात्त्विक वृत्ति का ही निरन्तर अभ्यास करते-करते जब साधक को उसकी त्रिगुणात्मकता का बोध हो जाता है तब वह जान लेता है कि मैं चेतन, कूटस्थ, विभु और अपरिणामी हूँ और यह विवेकख्याति परिणामी, अचेतन तथा जड़ है अतः यह भी मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार उसके प्रति भी वह वैराग्यवान् हो जाता है। इस वैराग्य के तत्काल पश्चात् ही मोक्ष अवश्यम्भावी हो जाता है अतः इसे पर माना जाता है।

८. चित्त प्रसाद के उपाय स्वरूप यहाँ सुखी, दुःखी पुण्यत्मा एवं अपुण्यशील व्यक्तियों के प्रति क्रमशः मैत्री, करुणा, मुद्रिता एवं उपेक्षा की भावना करने को कहा है। प्रायः हम सुख-सम्पन्न व्यक्तियों को देख ईर्ष्या की भावना में घिर जाते हैं। उस स्थिति में चित्त का द्वेष युक्त होना निश्चित है अतः उन सुखी व्यक्तियों के प्रति यदि द्वेष न रखते हुए मैत्री की भावना की जाय तो चित्त क्लुषित होने के बदले अधिक स्वच्छ व सात्त्विक हो सकेगा। इसी प्रकार जो दुःखी व्यक्ति हैं हमें उनके प्रति संवेदनशील होना चाहिये न कि उन्हें देखकर घृणा अथवा क्रोध करना चाहिये। ऐसा करने से भी हम एक ओर दुर्भावनाओं से बचेंगे दूसरी ओर कारुण्य नामक महान् गुण से सम्पन्न होंगे। इसी प्रकार जो पुण्यशील हैं उनको देखकर भी किसी प्रकार की हीन भावना या द्वेष मन में न लाते हुए प्रसन्न रहना चाहिये। अन्त में जो अपुण्यशील व्यक्ति हैं उनके प्रति उपेक्षा की भावना रखने का यहाँ उपदेश दिया गया है। अतः इन चारों की भावना का अभ्यास



चित्त शुद्धि में अनन्य सहायक है। बौद्ध-दर्शन में तो इन्हें ब्रह्म-विहार बताया गया है।

९. चित्त प्रसाद के उपरिवर्णित उपाय के अतिरिक्त प्राणायाम को भी अन्य उपाय के रूप में बताया गया है। प्राणायाम किस प्रकार चित्त शुद्धि में सहायक हो सकता है यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है। प्राणायाम का अर्थ है प्राण को रोकना, जिससे तात्पर्य प्राण की स्वाभाविक गति को रोक कर उसे धीरे-धीरे कम करना है। प्राण ही हमारे विचारों का आधार है। जब तक श्वास-प्रश्वास की गति अबाध रूप से चल रही है हम हर क्षण कुछ न कुछ सोचते रहते हैं तथा हमारा चित्त भटकता रहता है जैसे ही इस प्राणवायु को अवरोध किया जाता है वैसे ही विचार तारतम्य भी रुक जाता है। अतः विचारों की अनवरत शृङ्खला को बाधित कर रोकने में यह प्राणायाम अनन्य सहायक है।

१०. विषयवती प्रवृत्ति विभिन्न स्थानों पर संयम करने से होने वाला दिव्य विषयों का ज्ञान है। इस विषय में साधक को या तो अभ्यास के द्वारा ही इनकी सत्यता का ज्ञान होता है अथवा शास्त्र ही इस विषय में प्रमाण है ऐसा जानना चाहिये। अतः उस पर विश्वास कर साधक को चाहिये कि योगमार्ग पर अग्रसर होता रहे।

११. जब साधक शास्त्र द्वारा वर्णित किसी स्थान-विशेष पर संयम करता है और उसे शास्त्रवर्णित सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है तब निश्चय ही निरन्तर दीर्घकाल तक अभ्यास द्वारा प्राप्त होने वाली शास्त्र-वर्णित समाधि आदि के प्रति भी उसे विश्वास हो जाता है। यह इन दिव्य विषय रूप सिद्धि की प्राप्ति होने से उत्पन्न श्रद्धा का प्रमुख लाभ है।

१२. यहाँ जो 'इच्छा ही विकल्प है' ऐसा कहा गया है उसका अर्थ है कि इन परिकर्मों में कोई पौर्वापर्य क्रम नहीं है वरन् इन परिकर्मों में से किसी भी परिकर्म द्वारा चित्त प्रसाद की प्राप्ति किया जा सकता है। चिन्तन वाले परिकर्मों के लिए तो यह सिद्धान्त पूर्णतः लागू होता है।

१३. जो सालम्बन अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि है वह यद्यपि असम्प्रज्ञात से पूर्ववर्ती होने के कारण उसका साक्षात् कारण मानी जा सकती है परन्तु यथार्थ में ऐसा नहीं है क्योंकि सम्प्रज्ञात समाधि के परिणाम-स्वरूप पहले विवेकख्याति होती है तदनन्तर उस विवेकख्याति के प्रति भी वैराग्य हो जाने पर जो वैराग्य उत्पन्न होता है वही असम्प्रज्ञात समाधि का साक्षात् कारण होता है।

१४. कुछ श्रुति एवं स्मृतियों में जो कहा गया है कि ईश्वर जब जीवों को कर्म-फल प्रदान करता है तब परमानन्द का उपभोग करता है। यह शानन्द के



उपभोग का जो कथन है वह औपचारिक ही है वास्तव में तो वह नित्य आनन्द रूप उपाधि से संयुक्त रहता ही है। इस औपचारिक प्रयोग की समता लेखक ईश्वर की सृष्टि की इच्छा रूप औपचारिक प्रयोग के द्वारा करते हैं क्योंकि ईश्वर में किसी चीज की कमी नहीं जो उसे पूर्ण करने हेतु सृष्टि की इच्छा हो। वह तो पुरुषों के भोग एवं मोक्ष रूप प्रयोजन को सिद्ध करने हेतु मात्र निमित्त कारण है।

१५. अनित्य पदार्थ वे हैं जो सदा रहने वाले नहीं हैं परन्तु अन्य क्षण-भङ्गुर पदार्थों की अपेक्षा अधिक समय रहने वाले हैं। अतः भ्रमवश नित्य मान लिये जाते हैं यथा पृथ्वी, चन्द्रमा, तारे व स्वर्ग-लोक आदि। अनित्य पदार्थों में नित्य का भ्रम होना एक प्रकार की अविद्या है। यह शरीर जो विभिन्न गन्धगियों की खान है उस अपावन्न शरीर को चन्दन लेपन आदि कर पवित्र मान लेना भी अविद्या ही है। तीसरा रूप जो अविद्या का बताया गया है वह इस प्रकार जानना चाहिये—संसार में विभिन्न पदार्थ हैं जो हमें आपाततः सुखदायक प्रतीत होते हैं। इन पदार्थों को देखकर इनके प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है परन्तु यदि विश्लेषण करके देखा जाय तो परिणाम, ताप अथवा संस्कार दुःख के कारण प्रत्येक पदार्थ दुःखरूप ही है, मात्र सुखात्मक कोई पदार्थ नहीं है अतः दुःखमिश्रित पदार्थों को मात्र सुखात्मक मानना भी अविद्या ही है। चौथे प्रकार की अविद्या जो कि अन्य सभी अनर्थों का मुख्य कारण है वह है अनात्म तत्त्वों में आत्मत्व का भ्रम। कोई मन, तो अन्य इन्द्रिय तथा दूसरे शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं या फिर प्रकृति, महद्, अहंकार अथवा तन्मात्र आदि को आत्मा मानकर उसकी उपासना प्रारम्भ कर देते हैं अतः अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते।

१६. यहाँ आत्मा एवं अनात्मा को जो कि धर्मतः व स्वरूपतः अत्यन्त भिन्न तत्त्व हैं भिन्न न जानकर अज्ञानवश उनमें अभेद मानना ही अस्मिता है। यथा द्रष्टा पुरुष अथवा आत्म-तत्त्व है जो कि अपरिणामी, चेतन, अकर्ता एवं अभोक्ता है इसके विपरीत दृश्य परिणामी, जड़, कर्ता एवं भोक्ता है परन्तु अज्ञानवश जड़ प्रकृति को पुरुष प्रतिबिम्ब के कारण चेतन समझ लिया जाता है तथा स्वयं पुरुष को कर्ता, भोक्ता आदि, यही अस्मिता है जो कि संसार चक्र में अमित कराती रहती है।

१७. राग—सुख का अनुभव होने पर सुखात्मक पदार्थों एवं उनके साधनों के प्रति जो तृष्णा है वही राग कहलाती है। व्यक्तित्व हर सम्भव उपाय से इन पदार्थों को प्राप्त करना चाहता है अतः ये क्लेशदायक हैं।

१८. द्वेष—जो दुःखात्मक पदार्थ हैं उनके तथा उनको प्राप्त कराने वाले साधनों के प्रति भी होने वाली घृणा अथवा क्रोध ही द्वेष कहलाता है।



१६. अभिनिवेश—प्रत्येक प्राणी में जीवन के प्रति उत्कट अभिलाषा है वही अभिनिवेश क्लेश कहा जाता है। भाव यह है कि कोई भी प्राणी हो अथवा वह किसी भी अवस्था विशेष का हो मरना नहीं चाहता वरन् अपने सदा बने रहने की कामना करता है। यह जो मरण आस के कारण जीवित रहने की लालसा है वही अभिनिवेश क्लेश कही जाती है।

२०. अविद्या, अस्मिता आदि पाँचों क्लेशों में अविद्या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है इसका कारण समस्त अनर्थों की जड़ होना है। क्योंकि अविद्या के विद्यमान रहने पर ही प्रकृति, पुरुष के सान्निध्य से सृष्टि का प्रारम्भ होता है और पुरुष बन्धन में पड़ जाता है अतः उसके परिणाम स्वरूप ही अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश आदि अन्य क्लेश जीव को घेर लेते हैं। योग-मार्ग पर चलते हुए जब साधक धीरे-धीरे सत्त्वपुरुषान्यताख्याति रूप विवेक को प्राप्त कर लेता है तो निश्चय ही अविद्या नष्ट हो जाती है और अविद्या के न रहने पर अस्मिता आदि का आधार न रहने से उनकी सत्ता रह पाना दुष्कर ही नहीं असम्भव हो जाता है।

२१. जिस प्रकार चने के दाने को यदि उचित मात्रा में जल, हवा एवं प्रकाश मिले तो वह उपयुक्त भूमि में अंकुरित हो उठता है परन्तु यदि उसे भून दिया जाय तो चाहे कितनी भी अच्छी भूमि में उसका आरोपण क्यों न किया जाये वह अंकुरित नहीं हो सकता उसी प्रकार विवेकज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा अविद्या आदि क्लेशों को जो अब तक चित्त में तनु होकर प्रसुप्तावस्था में पड़े हुए थे, दग्धबीजभाव कर दिया जाता है तो किसी भी आकर्षण के सम्मुख रहने पर उनका आविर्भाव नहीं होता।

२२. इसी को विदेहमुक्ति भी कहा जाता है क्योंकि मुक्त-पुरुष अब पुनः शरीर धारण नहीं करता।

२३. जैसे कि टिप्पणी सं० २१ में स्पष्ट किया जा चुका है कि विवेक-ज्ञान के द्वारा क्लेशों को दग्धबीजभाव कर दिया जाता है। प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रत्येक धर्म की तीन अवस्थाएँ होती हैं—अतीत, अनागत एवं वर्तमान। ये क्लेश जो चित्त के धर्म हैं इनकी कौन-सी अवस्था को विवेकाग्नि द्वारा दग्धबीज-भाव किया जाता है उसी का वर्णन यहाँ किया गया है—बताते हैं कि जो क्लेश, कर्म तथा संस्कार आदि के इस बीजभाव को ज्ञानाग्नि द्वारा दाह किया जाता है वह न तो वर्तमान अवस्था का ही होता है न अतीत का क्योंकि जो वर्तमान है वह तो फल देने में प्रवृत्त हो ही चुका है उसे बीच में नहीं रोका जा सकता, और अतीतावस्था में विद्यमान भी क्योंकि अपना फल दे चुके हैं अतः किसी प्रकार भी कष्टदायक नहीं हैं। परेशानी मात्र अनागत अवस्था में विद्यमान इन क्लेश, कर्म आदि से होती है क्योंकि ये भविष्य में फल देकर ही कष्ट देते हैं। अतः उस



अनागत अवस्था में स्थित क्लेश, कर्म और संस्कार आदि की बीजशक्ति का दाह किया जाता है ।

२४. पुरुष का भोग अविद्या के कारण उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व का आरोप होने से उसके फल रूप सुख-दुःख की प्राप्ति रूप है जबकि दूसरा जो जाति, आयु और भोग में कहा गया भोग है वह चित्त का वास्तव में शब्दादि आकार में परिणत होना है ।

२५. सुखदायक पदार्थों के प्रति राग होता है यह बताया गया है और इस संसार में अनेक पदार्थ ऐसे हैं जो मात्र सुखात्मक प्रतीत होते हैं अतः यह किस प्रकार तर्क संगत माना जा सकता है कि विवेकी के लिए सभी पदार्थ दुःखरूप हैं । भाव यह है कि सामान्य जन जिसे सुख रूप पदार्थ मानते हैं विवेकी उनमें किसी न किसी प्रकार दुःख की छाया देख लेते हैं । यथा हमें कहीं से प्रचुर मात्रा में धन मिल जाए तो उसके कारण दुःख की आशंका भी नहीं की जा सकती । परन्तु उसी धन के द्वारा अनेक प्रकार से दुःख आ घेरता है । सर्वप्रथम तो वह स्वयं अनेक व्यक्तियों की ईर्ष्या का पात्र बनता है तथा धन के समाप्त हो जाने या फिर लुट जाने का भय भी उसे सुख से जीने नहीं देता । इसी प्रकार स्वर्ग प्राप्ति हो जाने पर भी व्यक्ति अपेक्षाकृत सुखी भले ही हो परन्तु पूर्णतः सुखी नहीं रहता क्योंकि वहाँ भी उसे समय के साथ उस सुख के समाप्त हो जाने की चिन्ता लगी रहती है । एवं वहाँ भी अपने से अधिक सुखी व ऐश्वर्यशाली इन्द्र दीखते हैं अतः ईर्ष्या या फिर हीन भावना से ग्रस्त हो सकता है । अतः विवेकी लोगों की सम्मति में प्रत्येक पदार्थ दुःखदायक ही है ।

२६. आचार्य विज्ञानभिक्षु ने कपिल के सांख्य-सूत्रों पर एक भाष्य लिखा है जिसका नाम सांख्य-प्रवचन-भाष्य है यहाँ उसी का उल्लेख स्वयं लेखक ने किया है ।

२७. सांख्यसार भी सांख्य का ही एक ग्रन्थ है जो कि उपरिवर्णित सांख्य-प्रवचन-भाष्य में की गयी व्याख्या का सार रूप है । वहाँ सांख्य के प्रत्येक पक्ष को बड़े ही सुन्दर एवं सुव्यवस्थित ढंग से लेखक ने प्रस्तुत किया है जिस प्रकार कि इस प्रस्तुत ग्रन्थ में योगवार्त्तिक से योग-विषयक सामग्री को ।

२८. आसन से पतञ्जलि का तात्पर्य बैठने की उस विधि से है जिसमें साधक सुखपूर्वक सुविधा के साथ चित्त को विषय पर केन्द्रित कर सके । हठयोग में जो अनेक आसन बताए गए हैं उनका मुख्य प्रयोजन शारीरिक स्वास्थ्य को बनाए रखना है क्योंकि उनमें बहुत ही कम समय तक बैठा जा सकता है, सुखपूर्वक का तो कहना ही क्या । अतः उनमें चित्त की एकाग्रता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता ।



२९. नारदीय-पुराण का उद्धरण देते हुए यहाँ प्राणायाम के जो अगर्भ एवं सगर्भ नाम से दो भेदों का वर्णन किया गया है वह योगसूत्र के टीकाकारों में सर्वप्रथम मात्र विज्ञानभिक्षु ने ही किया है अतः इस कारण सम्भवतः उक्त विभाजन ग्रन्थों को मान्य नहीं ।

३०. ब्रह्म अथवा सांख्य-योग वर्णित पुरुष सर्वव्यापक है । इसी प्रकार प्रकृति भी सर्वव्यापक है अतः उनके चिन्तन का आधार मात्र किसी देश-विशेष को किस प्रकार बनाया जा सकता है यदि यह शंका की जाय तो उचित नहीं क्योंकि उस सर्वव्यापक का निराकार रूप में तो चिन्तन किया नहीं जा सकता, वह जब किसी उपाधि से युक्त रहता है तब निश्चय ही वह किसी देश विशेष में ही रहता है अतः उस उपाधि से युक्त देश-कालावच्छिन्न पुरुष अथवा प्रकृति या सत्त्वपुरुषान्य-ताख्याति पर चित्त को एकाग्र किया ही जा सकता है ।



## तृतीय अंश

१. धारणा, ध्यान एवं समाधि तीनों जब एक विषयक होते हैं तब उन तीनों की सामूहिक संज्ञा संयम कहलाती है। विभिन्न विषयों पर संयम करने से भिन्न-भिन्न सिद्धियों की प्राप्ति होती है। विभूतिपाद में वर्णित संयमजन्य सिद्धियों का यहाँ सर्वप्रथम वर्णन किया जा रहा है। यहाँ बताया जायेगा कि किस विषय-विशेष पर संयम करने से किस सिद्धि-विशेष की प्राप्ति होती है।

२. जिस विषय-विशेष पर संयम किया जाता है तदसम्बन्धित ज्ञान की प्राप्ति होना तो समझ में आता है परन्तु एक विषय पर संयम किया जाए और उससे भिन्न दूसरे विषय का ज्ञान हो यह तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। परन्तु ऐसा सम्भव है। यही यहाँ कुछ सिद्धियों में देखने को आता है यथा सूर्य पर संयम करने से भुवनों का ज्ञान हो जाता है। यह इसी प्रकार का अन्य विषयक ज्ञान माना जा सकता है।

३. एक विषय पर संयम करने से अन्य के ज्ञान को तर्क एवं उदाहरण द्वारा यहाँ समझाया जा रहा है। लेखक का कहना है कि जिस प्रकार किसी यज्ञ-विशेष को सम्पन्न करने से स्वर्गविशेष की प्राप्ति सम्भव है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए क्योंकि यज्ञ एवं स्वर्ग दोनों भिन्न-भिन्न हैं उनका भी तो कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

४. जीव से तात्पर्य यहाँ पुरुष-सामान्य से है जो कि अविद्या ग्रस्त होकर प्रकृति की उपाधि से संयुक्त है एवं बन्धन में पड़ा हुआ है।

५. बुद्धि अथवा चित्त में हर समय पुरुष प्रतिबिम्बित रहता है। जब चित्त विषयाकाराकारित होता है तब पुरुष स्वप्रतिबिम्ब के कारण उस चित्त की वृत्ति को अपनी वृत्ति समझने लगता है। अतः वह उसका कर्त्ता एवं भोक्ता बन जाता है।

६. पुरुष के साथ एकात्मकता को प्राप्त हुए गुणों का उस रूप में अनुभव करना जो स्वरूप उनका नहीं है, निश्चय ही भोग कहलाता है। इसका कारण है अज्ञान जिसके परिणाम स्वरूप पुरुष बार-बार बन्धन में पड़ता रहता है।

७. भाव यह है कि प्रकृति क्योंकि दृश्य है अतः अन्य दृश्य पदार्थों बिस्तर आदि की भाँति स्वयं अपने भोग अथवा मोक्ष के लिए प्रवृत्त नहीं होती बल्कि अपने से भिन्न जो पुरुष है उसके भोग एवं मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है। यही उसकी



परार्थता है और इससे विपरीत पुरुष अन्य किसी के लिए प्रवृत्त नहीं होता वरन् उसके लिए ही उक्त रूप में भोग तथा मोक्ष होता है, यही उसकी परार्थता है।

८. जिस प्रकार घट रूप उपाधि से युक्त घटाकाश को हम उस उपाधि से आकाश को विविक्त करने पर ही जान पाते हैं उसी प्रकार चित्त में प्रतिबिम्बित जो पुरुष या चिदंश है उसे चित्त की शब्दादि वृत्तियों से भिन्न करने पर ही जान सकते हैं। परन्तु ईश्वर क्योंकि इससे भिन्न है अतः उसका साक्षात्कार वृत्तियों के विवेक द्वारा नहीं वरन् सम्पूर्ण प्रपञ्च से विवेक करने पर होता है।

९. यहाँ लेखक ने कहा है कि जो साधक वास्तव में आत्मसाक्षात्कार का इच्छुक है उसे चाहिए कि वह अन्य सभी सिद्धियों को प्रदान करने वाले संयम को त्याग कर मात्र इस उपरिवर्णित संयम को ही करे यह अनुभव सिद्ध है। इसके द्वारा स्पष्टतः विद्वान् लेखक का स्वयं योगमार्ग का अभ्यासी होना सिद्ध होता है। वह यहाँ इस ग्रन्थ में जो कुछ लिख रहे हैं मात्र पुस्तकीय ज्ञान पर आधारित नहीं वरन् निरन्तर दीर्घकालीन अभ्यास से प्राप्त ज्ञान का परिणाम है।

१०. जो प्रातिभ आदि सिद्धियाँ हैं वे स्वयं ही बिना प्रयास के इस सिद्धि के साथ प्राप्त होने वाली हैं। साधक को यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि ये आकर्षक सिद्धियाँ व्युत्थित चित्त के दृष्टिकोण से ही सिद्धि रूप हैं अन्यथा कैवल्य के मार्ग में तो बाधक ही हैं क्योंकि इनके प्रदर्शन में जहाँ समय नष्ट होता है वहाँ चित्त के पथभ्रष्ट होने का भय भी बना रहता है।

११. आत्मसाक्षात्कार कराने वाला संयम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण इस अध्याय में उसका सर्वप्रथम वर्णन किया गया है। उसके उपरान्त अब क्रमशः किए जाने वाले ग्राह्य, ग्रहण एवं ग्रहीतृ विषयक संयम-जन्य सिद्धियों का सविस्तार वर्णन किया जायेगा।

१२. ग्राह्य सर्वाधिक स्थूल तत्त्व है अतः संयम का प्रारम्भ उससे ही किया जाना चाहिए। यही कारण है कि यहाँ भी उस क्रम को ध्यान में रखते हुए ही सर्वप्रथम ग्राह्य-जन्य सिद्धियों का वर्णन किया जा रहा है।

१३. सृष्टि प्रक्रिया के स्थूलतम परिणाम हैं पंचमहाभूत जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के नाम से जाने जाते हैं। इनमें से प्रत्येक की पाँच-पाँच अवस्थाएँ मानी गयी हैं जिनकी संज्ञा क्रमशः स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्त्व है। इन पाँचों अवस्थाओं पर संयम करने से साधक को भूतजय नामक सिद्धि प्राप्त होती है। इन पर तब तक संयम करते रहना चाहिए जब तक कि उनका साक्षात्कार न हो जाए।

१४. पृथ्वी आदि पाँचों भूतों में रहने वाले आकार आदि धर्म व शब्द आदि विशेष की सामूहिक संज्ञा उनका स्थूल रूप है। प्रत्येक भूत में शब्दादि भिन्न-



भिन्न विशेष होते हैं, इसी प्रकार आकार आदि भी जो धर्म हैं वे हरेक भूत के भिन्न-भिन्न हैं । उन्हें भली-भाँति जानकर ही उन पर संयम किया जाना चाहिए । किस भूत में कौन-कौन से विशेष तथा कौन-कौन से धर्म हैं उनका विस्तृत वर्णन हमारी योग-विषयक अन्य पुस्तक 'योगसूत्र एक समालोचनात्मक अध्ययन' में किया गया है, जिज्ञासु ग्रन्थेषक वहाँ से देख सकते हैं ।

१५. भूतों की दूसरी अवस्था उनका स्वरूप है । स्वरूप से तात्पर्य विज्ञान-भिक्षु आकाशत्व, वायुत्व आदि जाति को मानते हैं । भाष्यकार व्यास लिखते हैं कि भूतों का जो सामान्य है वही उनका स्वरूप है यथा पृथ्वी का काठिन्य, जल का स्नेह, वह्नि का उष्णता, वायु का वहनशीलता तथा आकाश का सर्वगामिता । इन सामान्यों के ही शब्दादि विशेष हैं । विज्ञानभिक्षु का मत है कि भाष्यकार द्वारा जो काठिन्य आदि कहा गया है उसका व्यङ्ग्यार्थ ही पृथ्वीत्व आदि जाति है ।

१६. भूतों की तीसरी अवस्था को सूक्ष्म कहा जाता है । भूतों की कारण-भूत जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध तन्मात्राएँ हैं वे ही इन भूतों की सूक्ष्म अवस्था है ।

१७. सांख्य एवं योग दर्शन का मिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थ प्रकृति का परिणाम है और यह प्रकृति सत्त्व, रजस् एवं तमोगुण का सम्मिश्रण है । ये गुण अपने कार्यों में रूपान्तरित होकर विद्यमान रहते हैं । अतः तीनों गुणों का भूतों में इस प्रकार अनुस्यूत रहना ही अन्वय नाम की अवस्था है ।

१८. इन गुणों के प्रवृत्त होने का प्रयोजन क्योंकि पुरुष के भोग एवं मोक्ष को सम्पन्न करना है अतः वही इन भूतों का भी है क्योंकि ये भूत भी इन गुणों के ही परिणाम हैं । यही प्रयोजन अर्थवत्त्व नामक इनकी पाँचवी अवस्था मानी गयी है ।

१९. इन्द्रियों के उपरिवर्णित रूपों पर तब तक संयम करे जब तक कि वह उनका पूर्णतः साक्षात्कार न कर ले । इसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाली सिद्धि है इन्द्रियजय । इन्द्रियजय से तात्पर्य है कि साधक में इसके द्वारा इतनी सामर्थ्य आ जाती है कि वह किसी भी प्रकार की प्रथात् उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट इन्द्रिय का निर्माण कर सकता है । इन्द्रियों के पाँचों रूपों पर संयम करने के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली मुख्य सिद्धियों का वर्णन प्रागे विस्तार पूर्वक किया गया है, जो कि मनोजयित्व, विकरणभाव एवं प्रधानजय रूपी तीन हैं ।

२०. ग्रहीता पुरुष पर संयम करने के परिणाम स्वरूप सर्वभाव अधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञत्व नामक दो सिद्धियों की प्राप्ति होती है ऐसा कहा गया है । ये सिद्धियाँ यद्यपि विवेकज्ञान जो कि समाधि काल का चरम लक्ष्य था उसके परिणाम स्वरूप ही प्राप्त होती हैं परन्तु ये भी कैवल्य की प्राप्ति में विघ्न ही हैं



क्योंकि राग के कारण साधक इनमें ही अटका रहेगा व अपने लक्ष्य कैवल्य तक नहीं पहुँच सकेगा अतः इनके प्रति भी वैराग्य होना परमावश्यक है ।

२१. किसी सिद्धि-विशेष की जब प्राप्ति होती है तब जो जात्यन्तर परिणाम साधक प्राप्त करता है । वह किस प्रकार सम्भव है ? इसका ही सबिस्तार वर्णन यहाँ किया गया है । नवीन शरीर के निर्माण में जिन-जिन तत्त्वों की जितनी मात्रा अपेक्षित होती है वह उसे प्रकृति के आपूरण द्वारा प्राप्त हो जाती है तथा अनावश्यक तत्त्वों का अपसारण भी हो जाता है । यह जो प्रकृति का आपूरण व निर्गमन है वह धर्म-अधर्म आदि निमित्त जो कि इस आपूरण में बाधक थे हट जाने से होता है । शंका की जा सकती है कि धर्म-अधर्म आदि जो निमित्त हैं क्या वे ही इस प्रकृत्यापूर प्रयोजक नहीं माने जा सकते । उसका समाधान उदाहरण द्वारा किया गया है । भाव यह है कि जिस प्रकार विभिन्न कारियों में पानी पहुँचाने का इच्छुक किसान उन कारियों के पास उगे झाड़-झंखाड़ को हटाकर पानी को स्वाभाविक गति से बहने देता है ये झाड़-झंखाड़ इस स्वाभाविक प्रवाह में बाधक तो अवश्य थे परन्तु उस पानी को पाने में प्रयोजक कदापि नहीं । उसी प्रकार ये धर्म-अधर्म प्रकृति के आपूरण भी स्वाभाविक गति में बाधक थे उनके हट जाने मात्र से ही प्रकृत्यापूर हो जाता है अतः उन्हें प्रकृति का प्रयोजक नहीं माना जा सकता ।

२२ अपने कर्मों को एक साथ ही भोगने हेतु योगी अनेक शरीरों का निर्माण करता है — ऐसा कहा गया है । क्योंकि जिन कर्मों ने फल देना प्रारम्भ कर दिया है उनका उपभोग किए बिना वह मुक्त नहीं हो सकता । अतः उनका उपभोग वह उक्त रीति से अति शीघ्र कर लेता है । इन निर्माण कार्यों में क्या एक ही चित्त रहता है या भिन्न-भिन्न, यदि भिन्न-भिन्न तो फिर उनका निर्माण कैसे होता है, इसका ही समाधान यहाँ किया गया है । प्रत्येक निर्माण-काय में भिन्न-भिन्न चित्त होता है जिसका कि निर्माण योगी चित्त के मूल कारण अस्मिता से ही करता है परन्तु उनकी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का नियामक उसका मुख्य चित्त ही होता है ।

२३. जैसा कि ऊपर बताया गया है कि योगी निर्माण काय एवं निर्माण चित्तों को बना लेता है उसी प्रकार वह अपने भोगों का उपभोग करने के लिए विभिन्न ऐश्वर्य के साधन रूप अन्यान्य जीवों का भी निर्माण कर लेता है यथा हाथी-घोड़े आदि । यहाँ यह बताने का प्रयोजन इस शंका का समाधान है कि जब योगी अपने कर्मों का उपभोग करने के लिए विभिन्न शरीरों एवं तदनुरूप चित्तों का निर्माण करता है तब वह भोगानुरूप उपभोग्य सामग्री को कैसे प्राप्त करता है ।

२४. जिस प्रकार समाधि के द्वारा प्राप्त की जा सकने वाली विभिन्न सिद्धियों का वर्णन यहाँ किया गया है उसी प्रकार जन्मादि से भी अनेक सिद्धियों की



प्राप्ति हो जाती है जिनका वर्णन आगे किया जायेगा । परन्तु दोनों में अन्तर है । वह यह कि मात्र समाधि के द्वारा ही साधक अपने चित्त को शुद्ध करता हुआ केवल्य तक पहुँच सकता है । अन्य सिद्धि-युक्त चित्त से वह विभूत युक्त तो होता है पर केवल्य भागी नहीं ।

२५. सिद्धियों को पाँच प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है । वे हैं (१) जन्म से ही प्राप्त सिद्धि, (२) विभिन्न रसायन आदि से प्राप्त ओषध जन्य सिद्धि (३) मन्त्रों का जाप करने से विशिष्ट वस्तु अथवा सामर्थ्य की प्राप्ति होना रूप मन्त्र सिद्धि (४) निरन्तर घोर तपस्या के परिणाम स्वरूप साधक को अनेक सिद्धियों की प्राप्ति हो-जाती है यथा किसी भी परिस्थिति में विचलित न होना तथा संकल्प मात्र से ही विभिन्न पदार्थों को प्राप्त कर लेना आदि । अन्तिम हैं समाधि-जन्य सिद्धियाँ जिनका सविस्तार वर्णन कर दिया गया है । मोक्षेच्छु के लिये ये सिद्धियाँ ही महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है ।



## चतुर्थ अंश

१. कैवल्य क्या है अथवा उस दशा में प्रकृति और पुरुष की क्या अवस्था रहती है ? इन जिज्ञासाओं का समाधान ही कैवल्य पाद के इस चौतीसवें सूत्र में दिया है। सूत्रकार लिखते हैं कि जब गुण अर्थात् प्रकृति के बुद्धि रूप में परिणत सत्त्व, रजस् एवं तमोगुण अपने प्रयोजन-पुरुष के भोग तथा मोक्ष को सम्पन्न कर चुके होते हैं तब उनके लिए यहाँ कुछ भी करणीय अवशिष्ट नहीं रहता। अतः वे अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाते हैं और इसके साथ ही अज्ञान की सर्वांश में निवृत्ति हो जाने से चितिशक्ति रूप जो पुरुष है वह भी प्रकृति के आरोपित धर्मों से रहित होकर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही कैवल्य है।

२. जिज्ञासा हो सकती है कि जब प्रकृति, पुरुष के भोग एवं मोक्ष रूप प्रयोजन को सम्पन्न कर चुकी होती है तो फिर उसके लय मानने की क्या आवश्यकता ? हम यह क्यों नहीं मान लेते कि उन गुणों का नाश हो जाता है। इसके समाधान हेतु ही पतञ्जलि का यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है। वह कहते हैं कि किसी पुरुष-विशेष का प्रयोजन पूर्ण हो जाने पर वे गुण उसके लिये तो नष्टप्राय ही हो जाते हैं परन्तु उनका पूर्ण नाश नहीं होता क्योंकि सांख्य-योग दर्शन अनेक पुरुष मानते हैं। एक पुरुष के मुक्त हो जाने पर सभी पुरुष तो मुक्त नहीं हो जाते। अतः मुक्त हुए पुरुष के प्रति नष्ट हुआ होने पर भी उन्हें अन्यों के लिए तो विद्यमान रहना ही पड़ता है। अतः उस पुरुष-विशेष की दृष्टि में तो वे नष्ट हो जाते हैं परन्तु अन्यों के भोग एवं मोक्ष रूप प्रयोजन की सिद्धि हेतु वे विद्यमान ही रहते हैं।

३. जिस दुःख का हम उपभोग कर चुके हैं अर्थात् जो अतीतावस्था को प्राप्त हो गया है उसके विषय में तो सोचना भी व्यर्थ है और जो हम वर्तमान में भुगत रहे हैं वह उन कर्मों का परिणाम है जिन्होंने अपना फल देना प्रारम्भ कर दिया है, वे भी अपना फल दिये बिना नहीं रह सकते। अतः उनके विषय में भी कुछ नहीं किया जा सकता। परन्तु वे असंख्य दुःख जो कि अनागत अवस्था में पड़े हैं और आने वाले समय में पग-पग पर बाधा व पीड़ा पहुँचाने वाले हैं, उन्हीं को रोका जाना जरूरी व सम्भव है। यही कारण है कि यहाँ योगसूत्रकार ने अनागत दुःख को ही हेय अथवा त्याज्य बताया है।

४. यों तो कोई भी पदार्थ हमें दुःख दे सकता है अतः दुःख भी असंख्य प्रकार के हो सकते हैं। परन्तु कारण की दृष्टि से दुःखों के तीन भेद



किये गए हैं आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। आध्यात्मिक वे दुःख होते हैं जो कि स्वयं से सम्बन्धित हों या जिसका कारण व्यक्ति स्वयं हो। ये दो प्रकार के होते हैं शारीरिक एवं मानसिक। वात, पित्त एवं कफ की विषमता से शारीरिक दुःखों की प्राप्ति होती है तथा काम, क्रोध आदि मानसिक दुःखों के कारण बनते हैं। आधिभौतिक वे दुःख होते हैं जो कि अन्य भूतों या प्राणियों के द्वारा प्राप्त होते हैं यथा किसी हिसक जीव द्वारा प्रहार करना अथवा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा कटु वचन आदि कहना—इसी प्रकार के दुःख हैं। आधिदैविक दुःखों के अन्तर्गत अकाल, अतिवृष्टि, भूकम्प आदि आते हैं जो कि दैव के ही हाथ में है।

इन तीनों ही प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाना परमावश्यक है। यद्यपि लौकिक उपायों द्वारा इनसे छुटकारा मिल सकता है परन्तु वह मात्र कुछ ही समय के लिए होता है अतः इन सभी दुःखों से आत्यन्तिक अर्थात् हमेशा के लिए मुक्ति प्राप्त करना ही पुरुषार्थ है। ऐसा सांख्य के प्रथम सूत्र व सांख्यकारिका की प्रथम कारिका में भी कहा गया है। योग-दर्शन ने भी जैसा कि इससे पहले स्पष्ट कर आये हैं अनागत दुःख को हेय माना ही है। अतः दोनों में अविरोध ही है।

५. योग-दर्शन के अनुसार पुरुष अविद्या के कारण ही प्रकृति के घर्मों का अपने में आरोपण कर लेता है। अतः स्वयं को कर्ता-भोक्ता आदि समझने लगता है जिस कारण वह पाप-पुण्य के फलों का भागी हो जाता है। इस प्रकार निरन्तर जन्म-मृत्यु के बन्धन में भ्रमित होता रहता है। विवेकज्ञान के द्वारा जब वह जान लेता है कि वह स्वयं न कर्ता है न भोक्ता, ये तो प्रकृति के घर्म हैं जिनसे वह अपना सम्पर्क रहा था वह तो अकर्ता, निसंग, शुद्ध एवं अपरिणामी है; तब वह अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। अतः एक प्रकार से देखा जाए तो वेदान्तियों द्वारा जो उपाधि के नष्ट होने पर मुक्तावस्था में जीव का ब्रह्म में लय माना जाता है, वह किसी भी प्रकार इससे भिन्न स्थिति नहीं है क्योंकि दोनों ही के मत में उस अवस्था में पुरुष अथवा आत्मा अपनी वास्तविक दशा में अवस्थित हो जाते हैं।

६. उपर्युक्त तथ्य को ही यहाँ उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है—जिस प्रकार हम कहते हैं कि अमुक नदी समुद्र में लीन हो गयी तब वह लय क्या होता है? उसका अपनी उपाधि (नाम-विशेष) को त्यागना न कि नष्ट होना या अन्य रूप-विशेष को प्राप्त करना। उसी प्रकार जीवों का अपनी उपाधि को त्याग देना या अपनी पृथक् सत्ता न बनाए रखना ही ब्रह्म में लीन होना है।

७. वैशेषिक-दर्शन बुद्धि, मुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न घर्म, अघर्म एवं संस्कार ये तो आत्मा के विशेष गुण मानता है। इन विशेष गुणों से आत्मा का अत्यन्त विच्छेद ही इस निःश्रेयस अवस्था में होता है। न्यायकंदली में श्रीधर ने स्पष्ट कहा भी है 'विशेषगुणोच्छेदे हि सति आत्मनः स्वरूपेणावस्थानम्।' अर्थात् विशेष गुणों का उच्छेद होने पर आत्मा का स्वरूप में अवस्थित होना ही निःश्रेयस है।



८. ये विशेष गुण यदि हमारे द्वारा जो आरोपित धर्म हैं या फिर उपाधि के गुण रूप में माने जाएं तो दोनों मतों में कोई मतभेद नहीं रह जाता क्योंकि लेखक स्पष्ट करते हैं कि उपाधि के विशेष-गुणों का ही उपाधिमान् में उपचार होता है। अतः जब उपाधि का उच्छेद होगा तो उसके गुणों का उच्छेद हो ही जायेगा। इस प्रकार विशेष-गुणों का उच्छेद ही मोक्ष है ऐसा मानने वाले वैशेषिकों के मत से भी योगाभिमत कैवल्य अभिन्न ही है।

९. नैयायिक तो स्पष्टतः दुःख की अत्यन्त निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं न्याय सूत्र १.१.२ में कहा गया है, दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान में एक के पश्चात् दूसरे से छुटकारा पाने पर, अपवर्ग की प्राप्ति हो जाती है। भाव यह है कि तत्तज्ज्ञान के प्राप्त होने से मिथ्याज्ञान दूर हो जाता है और मिथ्याज्ञान के मिटने पर राग-द्वेषादि दोषों का नाश होता है, इन दोषों के नष्ट होने से सब विषयों में प्रवृत्ति के रुकने से मनुष्य कर्म से निवृत्त हो जाता है। कर्म न होने से प्रारब्ध नहीं बनता और प्रारब्ध न बनने से जन्म-मरण नहीं होता, ये जन्म-मरण ही सुख-दुःख रूप होने से इनका अभाव ही सुख-दुःख का अत्यन्त अभाव रूप अपवर्ग है।

अतः जैसा कि टिप्पणी सं० ४ में सांख्य से मतेय्य दिखाते हुए स्पष्ट कर आए हैं कि दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होना ही मोक्ष है। दोनों दर्शनों के द्वारा ऐसा माना जाने से कैवल्य के विषय में ये दोनों समान मत वाले हैं उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए।

१०. यह तो स्पष्ट है कि न्याय एवं योग दर्शन दोनों ही दुःख की अत्यन्त निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं परन्तु दोनों का दुःखनिवृत्ति विषयक दृष्टि-कोण भिन्न है। सांख्य प्रकृति द्वारा पुरुष का भोग एवं मोक्ष रूप प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर कैवल्य मानते हैं तो नैयायिकों के मत में आत्मा में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान दुःख की निवृत्ति होती है।

११. अद्वैत वेदान्त के अनुसार मोक्ष परमानन्द की प्राप्ति रूप है। विज्ञान-भिक्षु को यह मत सर्वथा मान्य नहीं है। उनका कहना है कि ये जो नवीन वेदान्ती मोक्षावस्था में नित्यानन्द की कल्पना करते हैं वह हमें मान्य नहीं है। यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि विज्ञानभिक्षु इस प्रकार अपने मत का सर्वप्रथम वेदान्त से साम्य दिखाते हैं और अन्त में अद्वैत वेदान्त का वर्णन कर उससे मतभेद। उसका कारण यह है कि वह बताना चाहते हैं कि हमारा मत श्रुति एवं स्मृति के अनुरूप है अतः सभी आस्तिक दर्शनों से भी अभिन्न है परन्तु जो अद्वैत वेदान्ती हैं जिन्हें लेखक ने अनेक स्थानों पर वेदान्तीब्रूव आदि अपशब्दों से भी सम्बोधित किया है, उनके मत को वेद एवं श्रुति विरुद्ध सिद्ध करना है तथा अपना भी उससे मतभेद प्रदर्शित करना है, जैसाकि आगे के वर्णन से स्वयं स्पष्ट हो जाता है।



१२. सांख्यसार—जैसाकि पहले भी बताया जा चुका है, विद्वान् लेखक द्वारा ही लिखा गया सांख्य विषयक एक गम्भीर एवं सारगर्भित ग्रन्थ है। इसके दो भाग हैं—पूर्वभाग एवं उत्तरभाग। सम्पूर्ण पूर्वभाग प्रायः विवेकज्ञान विषयक ही है यदि यह कहा जाए तो अनुचित न होगा।

१३. ब्रह्मादर्श नाम का ग्रन्थ अनुपलब्ध है। आपरेवट ने अपने कैटेलाॅगस-कैटेलाॅगरम में विज्ञानभिक्षु के ग्रन्थों की जो सूची दी है उसमें इस ग्रन्थ का नामोल्लेख मिलता है। साथ ही स्वयं लेखक ने अनेक बार इसका उल्लेख किया है। यहाँ आए वर्णन के अनुसार यह लगाया जा सकता है कि इसमें ब्रह्म, ईश्वर आदि विषय पर विवेचन किया गया है।

१४. ब्रह्म सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में मुख्यतम है विज्ञानामृतभाष्य, जो कि त्रैदान्त सूत्रों की विस्तृत व्याख्या है। लेखक ने इसे 'ऋजु-व्याख्या' कहा है—उपनिषद्-भाष्य, व ईश्वरगीताभाष्य आदि ग्रन्थों में भी ब्रह्म एवं ईश्वर आदि विषयों का विशद वर्णन हुआ है।

१५. विज्ञानभिक्षु अर्थ की प्रतीति में स्फोट की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए सांख्य-सूत्र में दिये गये विरोधी मतवाद का प्रतिपादन करने वाले सूत्र को उद्धृत करते हैं। इसमें कहा गया है कि शब्द स्फोटात्मक अर्थात् स्फोटरूप नहीं है क्योंकि उच्चारण होने पर जिसकी प्रतीति होती है, वह ध्वनिरूप वर्णात्मक पद है उसके अतिरिक्त किसी स्फोट आदि की प्रतीति नहीं होती।

१६. जिस प्रकार सयोग-विशेष रूप असमवायिकारण से अवच्छिन्न जो घट के अवयव हैं उनसे घट रूप अवयवी का कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सकता, जबकि अवयवों के बिना अवयवी हो ही नहीं सकता। अवयवों का विशेष महत्त्व है तथापि अवयवी घट रूप भिन्न पदार्थ मानना ही पड़ता है। उसी प्रकार यहाँ भी यद्यपि वर्णों के बिना पद तथा तदभिप्रेत अर्थ की प्रतीति असम्भव है तथापि मात्र इनके द्वारा ही किसी व्यञ्जक के अभाव में अर्थाभास असम्भव होने से अर्थ को स्फुट करने वाले नित्यस्फोट को मानना ही होगा।

१७. ओंकार रूप प्रणव में तीन वर्णों का सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है अकार, उकार तथा मकार जो कि क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश के वाचक हैं परन्तु श्रुतियाँ प्रणव को चार मात्राओं वाला बताती हैं। इन उपरिवर्णित तीन मात्राओं के अतिरिक्त इस पद में अन्य चतुर्थ मात्रा यह स्फोट ही है अन्य कुछ नहीं ऐसा जानना चाहिये।

१८. जिस प्रकार वर्णों के एक साथ उच्चरित होने पर पद के विशिष्ट अर्थ का बोध कराने के लिए पद स्फोट की सत्ता मानी जाती है उसी प्रकार वाक्य



में नियोजित विभिन्न पदों से वाक्यार्थ के द्योतक वाक्य-स्फोट की सत्ता को भी योग-दर्शन स्वीकार करता है ।

१६. अन्तःकरण की नित्यता में यहाँ एक तर्क प्रस्तुत किया गया है— धर्म एवं प्रधर्म की वासनाओं का आश्रय रूप अन्तःकरण या चित्त प्रत्येक पुरुष के साथ जन्म-जन्मान्तर से चला आ रहा है । उसका अनादित्व पतञ्जलि ने 'तासा-मनादित्वं चाधिपो नित्यत्वात्' (यो० सू० ४/१०) के द्वारा सिद्ध किया है । वह लिखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में यह आत्माशी रहती है कि मैं हमेशा विद्यमान रहूँ, कभी भी मेरा नाश न हो । यह आत्माशी जातमात्र प्राणी में भी देखी जाती है । अतः स्पष्ट है कि पूर्व मरण दुःख की वासना उसके अन्तःकरण में विद्यमान है ।

२०. यदि इन अदृष्ट आदि को प्रत्येक पुरुष के साथ विभिन्न जन्मों में विद्यमान अन्तःकरण का धर्म न मानकर प्रकृति का धर्म माना जायेगा तो प्रकृति क्योंकि सभी पुरुषों के लिए एक ही है उस दशा में किसी अन्य पुरुष के द्वारा किये गये पाप-पुण्य उस प्रकृति में विद्यमान अदृष्ट के कारण अन्य पुरुष में सुख-दुःख की उत्पत्ति का कारण बन जायेंगे क्योंकि एक सामान्य आधार रूप प्रकृति किस प्रकार अलग-अलग पुरुष के धर्म-अधर्म का खाता रख सकेगी ।

२१. अन्तःकरण विभु है । अतः अज्ञात रूप आवरण के भंग होने पर योगियों को स्वाभाविक रूप से योगजधर्म द्वारा प्रत्येक पदार्थ का पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है । उसमें किसी सम्बन्ध विशेष की कल्पना करना व्यर्थ है इसी बात को यहाँ बताया गया है—यदि यह कहा जाय कि योगियों का किसी बाह्य धर्म विशेष से सम्बन्ध हो जाता है तब उस योगजधर्म के कारण ही वे विभिन्न पदार्थों का अनुभव कर पाते हैं तो ठीक नहीं, क्योंकि उस प्रकार का अनुभव तो वे किसी भी संयुक्त, समवाय अथवा संयोग सम्बन्ध के द्वारा कर सकते हैं फिर योगज नाम के अलग सम्बन्ध की कल्पना करना व्यर्थ है ।

२२. यदि योगज नाम के किसी अलौकिक सम्बन्ध की कल्पना की जाती है तो फिर लौकिक एवं इस अलौकिक सम्बन्ध के मध्य व्यभिचार की सम्भावना बनी रहेगी, साथ ही जब सामान्य लौकिक सम्बन्धों के आधार पर ही काम चल रहा है तो फिर इस अलौकिक सम्बन्ध जाति की कल्पना में निश्चय ही गौरव-दोष की प्राप्ति होगी ।

२३. जिस प्रकार हम जानते हैं कि अपनी सत्ता एवं आस-पास के पदार्थों का पूर्ण ज्ञान होने पर भी तमोगुण के आधिक्य के कारण सुषुप्ति में हमें यह भी पता नहीं रहता कि हमारी आयु क्या है, युवा हैं या वृद्ध, रूप कैसा है ? कहाँ पर है तथा आस-पास क्या-क्या है? तब क्या यह ज्ञान लेना चाहिये कि उठने पर भी किसी सम्बन्ध-विशेष के कारण ही उन सब पदार्थों का अनुभव हाने लगता है । वह तो



तमोगुण की निवृत्ति से स्वयं ही भासित हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिये कि अन्तःकरण सम्पूर्ण विषयों को सर्वथा ग्रहण करने में समर्थ है। अज्ञान के कारण उस पर आवरण पड़ा रहता है जिस कारण वह परिमित ज्ञान वाला हो जाता है। योगजधर्म द्वारा इस तमोगुण रूप आवरण का ही भंग होता है ऐसा जानना चाहिये।

२४. कहा गया है कि अन्तःकरण को अणु परिमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि तब जो योगियों को सब कुछ प्रत्यक्ष हो जाता है वह सम्भव नहीं हो सकेगा। इसके पश्चात् विपक्षी शंका करता है कि यदि अणु परिमाण नहीं माना जा सकता तो उसे मध्यम परिमाण वाला ही मान लिया जाये, उसमें क्या हानि है? उक्त शंका का समाधान ही यहाँ पर करते हुए लेखक कहते हैं कि यदि मध्यम परिमाण का मानेंगे तो प्रलय काल में जो सभी के अदृष्ट वहाँ विद्यमान रहते हैं और सृष्टि के समय उन्हें उसके अनुसार ही जाति-आयु व भोग मिलते हैं वे सम्भव नहीं हो सकेंगे।

२५. शंका की जाती है कि यदि अन्तःकरण को विभु माना जाता है तो उसे हर समय हर वस्तु का भान होना चाहिये वह तो होता नहीं, इसका समाधान मन के आवरण तमोगुण को बता कर किया जा सकता है। यही कारण है कि योगियों को सभी पदार्थों के ज्ञान में योगजधर्म द्वारा अज्ञान के आवरण का हटना ही बताया गया है। इसी संदर्भ में एक और तर्क विपक्ष की ओर से प्रस्तुत करते हैं कि लाघव होने के कारण फिर तो अन्तःकरण का आवरण न मानकर चैतन्य का ही आवरण मान लेना चाहिये, उसमें अन्तःकरण के मानने की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। इसका समाधान आगे स्वयं लेखक ने कर दिया है।

२६. इच्छा एवं कृति आदि अन्तःकरण में ही रहते हैं ऐसा माना जाने के कारण उस इच्छा के परिणाम-स्वरूप जो स्वप्नावस्था में घट-पट आदि की संरचना होती है उसे भी अन्तःकरण में ही मानना चाहिये क्योंकि कारण रूप इच्छा का कार्य रूप ये घट आदि हैं और कारण तथा कार्य का एक आधार में होना ही तर्क संगत है।

२७. न्याय एवं बौद्धिक दर्शन आत्मा आदि नित्य पदार्थों की भाँति काल को भी एक नित्य द्रव्य मानते हैं उनके अनुसार जो क्षण, मास, वर्ष आदि का व्यवहार होता है वह उपाधि भेद के कारण है न कि क्षणों के समूह के कारण अर्थात् वहाँ असंख्य क्षण न मानकर एक काल की सत्ता मानी गयी है।

२८. परवर्ती दशा के संयोग से विशिष्ट क्रिया आदि विशेष्य, विशेषण या उसका सम्बन्ध मानी जाती हैं तो उन्हें काल की उपाधि मानने हेतु स्थिर तत्त्व मानना होगा जिससे यह क्षण रूप व्यवहार सम्भव नहीं हो सकेगा।



२९. सांख्य एवं योग मूल रूप से दो ही तत्त्वों को मानते हैं—प्रकृति एवं पुरुष। यदि क्षण को एक भिन्न स्थिर तत्त्व मान लिया जाये तो क्या यह उक्त सिद्धान्त की हानि नहीं होगी। इस शंका का समाधान करते हुए लेखक लिखता है कि यह क्षण क्योंकि प्रकृति का ही अत्यन्त भङ्गुर (नाशवान) परिणाम विशेष है अतः उसको अलग तत्त्व मानने से सिद्धान्त की हानि नहीं होती।

३०. इस प्रकार यहाँ मनोवैभव व काल के रूप में क्षण की सत्ता तथा स्फोट आदि उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जिनका सांख्य व वेदान्त आदि पर लिखे गये लेखक के ग्रन्थों में प्रायः विचार नहीं हुआ है। उनका मत है कि ऐसे कुछ ग्रन्थ भी हमारे द्वारा योगादि पर लिखे ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्त आये हैं जो कि सांख्यादि द्वारा प्रतिषिद्ध हैं। अतः विद्वान् पाठकों से अनुरोध है कि वे उन्हें हमारे ग्रन्थों में देख लें।



## अनुक्रमणी

अक्षरभावना ७  
 अनुमानम् २  
 अन्तःकरणम् ३८  
 अपरिग्रहः २०  
 अभ्यासः १३  
 अभ्यासस्यान्तरङ्गं साधनम् परिकर्म  
 १४  
 अविद्यानिवृत्तिः ४  
 असम्प्रज्ञातः उपायप्रत्ययः ६  
 असम्प्रज्ञातः भवप्रत्ययः ६  
 असम्प्रज्ञातयोगः ३  
 असम्प्रज्ञातयोगफल मोक्षः १०  
 असम्प्रज्ञातयोगस्य प्रारब्धकर्मदाहकत्वम्  
 ४  
 असम्प्रज्ञातयोगस्यापेक्षा ३  
 असम्प्रज्ञातयोगो निर्वीजयोगः १०  
 असम्प्रज्ञातयोगो मोक्षोपायः, तत्र क्रमः  
 १०-११  
 असम्प्रज्ञातसमाधिः ६  
 असम्प्रज्ञातसमाधेर्द्विविध्यम् ६  
 असम्प्रज्ञातस्य दृष्टं फलम् ३  
 असम्प्रज्ञातो निराशम्भनयोगः १०  
 अस्तेयम् २०  
 अस्मिता-परिभाषा ६  
 अहिंसा १६-२०  
 आ  
 आकाशम्, भेदाः, आकाशम् विता-  
 काशम्, चिदाकाशम्  
 आत्मसामान्यविषयको योगः ७  
 आनन्द-परिभाषा ६  
 आसनम् २१

इच्छाकृत्यादिरूपावृत्तयः १  
 ईश्वरः १०  
 ईश्वरपूजनम् २०  
 ईश्वरप्रणिधानम् १०  
 उत्तमाधिकारिणः (योगस्य) १२  
 उपायप्रत्ययः १०  
 उपायाः पञ्चविधाः ६  
 उपायविधाः ६  
 श्रद्धा, वीर्यम्, स्मृतिः, समाधिः  
 प्रज्ञा ६  
 ऊ  
 ऊर्णनाभः १  
 क  
 कर्मत्यागः १२  
 कर्मत्यागव्याख्या १३  
 करणानां प्रवृत्तिः पुरुषार्थः २  
 कायव्यूहः ३३  
 कालः ३६  
 कालः  
 क्षणात्मकः  
 कालस्याखण्डात्मकत्व-  
 निराकरणम् ३६  
 कालविषये न्यायवैशेषिकयोः  
 साङ्ख्यस्य च निराकरणम् ३६  
 कैवल्यम् ३५  
 कैवल्यं प्रकृतिधर्मः ३५  
 कैवल्यभेदाः ३५  
 क्रियायोगः १२  
 क्रियायोगस्य मोक्षहेतुता १६



क्रियायोगफलम् १७

क्रियायोगः १६-१७

क्लेशाः पञ्च १७

अविद्या

अस्मिता

रागः

द्वेषः

अभिनिवेशः

क्लेशोन्मूलनप्रकारः १८

ग

गन्धप्रवृत्तिः १५

च

चित्तवृत्तयः (पञ्चविधाः १)

चित्तस्थैर्यम् १५

ज

जीवन्मुक्तः २७

जगच्चक्रव्यूहम् १

जीवन्मुक्तावस्था ६

जीवन्मुक्तिपरममोक्षो ६

ज्ञानं योगश्च उभयं मोक्षकारणम्

११

ज्योतिष्मती द्विविधा १५

त

तपः २०

तपोजपादीनां योगसाधनभेदः ५, ६

ध

धर्माधर्माभ्यां जन्मायुर्भोगरूपा

विकाराः १८

धारणा २४

ध्यानम् २४

ध्येयसाक्षात्कारप्रकारः ३

न

नादस्वरूपम् ३८

निद्रा (चित्तवृत्तिः)

नियमाः २०

निरोधः न साक्षात्कारहेतुः २

निर्विचारसमापत्तिः ८

निर्वितर्कनिर्विकल्पो पर्यायो ८

निर्वितर्कसमापत्तिः ८

प

पतञ्जलिः १

परमात्मयोगः ७

परिकर्म = प्रसाधनम् १४

परिकर्म = अभ्याससाधनम् १६

परिकर्मस्थितिहेतुश्चित्तसंस्कारः १४

परिकर्म (प्रथमम्) १४

परिकर्म (द्वितीयम्) १४

परिकर्म (तृतीयम्) १४

परिकर्म (चतुर्थम्) १५

परिकर्म (पञ्चमम्) १५

परिकर्म (षष्ठम्) १५

पारमेश्वरी भावना ७

पुनर्जन्मानुपपत्तिः ४

प्रकृतिलयाः १०

प्रज्ञा ६

प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणम् २

प्रत्याहारः २८

प्रमा २

प्रमाणानि १

प्रमाणं चित्तवृत्तिः १

प्रवृत्तिनिवृत्ती भावरूपे २

प्राणायामः १४, २१

प्राणायाममात्राः २३

प्राणायामे

जपादिनिरूपणम् २३

प्राणायामे ध्यानम् २३

प्राणायामभेदाः २२

व

विन्दुस्वरूपम् ३८

ब्रह्मचर्यम् २०

ब्रह्मयोगः

(परमेश्वरयोगः) ७

भ

भवप्रत्ययः १०

म

मध्यमाधिकारिणो

योगसाधनानि १६

मनोवैभवम् ३८, ३९

मन्दाधिकारिणो योगसाधनानि १६



भूतभावना ७

भूतशब्दस्यार्थः ७

भूमिकाचतुष्टयम्, क्रमः ५

भूमिकारोहे ईश्वरप्रसादः ५

म

मशकः १

महत्तत्त्वम् १

मूषानिक्षिप्तद्रवताम् २

मोक्षपरिभाषा ३६

मोक्षसाधनानि ३

मोक्षस्वरूपम् ३६

मोक्षहेतुः ३

मोक्षः (अधिकारिणः)

नववेदान्तमते मोक्षस्वरूपम् ३५

ब्रह्ममीमांसादिषु मोक्षमतम् ३५

वेदान्तमते मोक्षस्वरूपम् ३५

मोक्षे सुखप्रतिषेधिकाः भूतयः ३५

य

यम नियमयोर्विशेषः २२

यमनियमादीनां विवेचनम् २७-२८

यमनियमौ १६

योगफलम् ३

योगः असम्प्रज्ञातः २३

योगः चित्तवृत्तिनिरोधः ११

योगः १

योगभेदाः २

योगशब्दो योगसाधनत्वाद् गोणः १

मोक्षोपायत्वाच्च गोणः

योगः सम्प्रज्ञातः २

योगसागरः १

योगस्य चरमसीमा ७

योगस्य उत्तमाधिकारिणः ७

योगसाधनानि १२

योगस्वरूपप्रयोजनयोनिरूपणम् ११

योगाग्निदंष्ट्रीत्यादेर्वक्त्यर्थः ४

योगाग्नेः शक्तिः ४

योगाङ्गानि अष्टौ १६

योगाधिकारिणः १२, १६

योगारूढलक्षणम् १३

योगिभेदाः ७

(१) भौतिकः

(२) साङ्ख्यः

(३) अन्त्याश्रमी

र

रससंवित् १५

राजयोगमार्गः ५

राजयोगः २६, २७

रूपसंवित् १५

व

वृत्तिः (न बुद्धेर्भागः) २

विकल्पः (चित्तवृत्तिः) १, २

विचार-परिभाषा ६

विचारस्य द्वैविध्यम् ८

सविचारः ८

निविचारः ८

वितर्क-परिभाषा ५

वितर्कसमापत्तिः ८

वितर्कस्य द्वैविध्यम् ८

वितर्कादियोगक्रमः ५

विदेहाः १०

विपर्ययः चित्तवृत्तिः २

विषयवती प्रवृत्तिः १५

दिषयाः १५

वीर्यम् ६

वृत्त्युत्पद्युःखभोगनिवृत्तिः ३

वैराग्यम् १४

वैराग्यम् अपरम्-चतुर्विधम् १४

यतमानसंज्ञा

व्यतिरेकसंज्ञा

एकेन्द्रियसंज्ञा

वशीकारसंज्ञा

वैराग्यं परम् १४

व्यासः १

व्यूहाः (चत्वारः) १८

हेयम्

हेयहेतुः

हानम्

हानोपायाः



श

शब्दः ३७  
शब्द प्रमाणम् २  
शब्दभेदाः ३७  
शब्दार्थज्ञानविकल्पः ८  
शौचम् २०  
श्रद्धा ६

स

संयमः २५  
संयमस्य भूमिषु विनियोगः २५  
संयमसिद्धयः २६-३१  
संस्कारवृत्तिः २  
सत्यम् २०  
सन्तोषः ०  
सत्त्वरजस्तमोमयं बुद्धितत्त्वम् १  
समाधिः ६, २५  
समापत्तिशब्दव्याख्या ८  
सम्प्रज्ञातभूमिकानां  
लक्षणानि ६  
सम्प्रज्ञातभेदाः ७-८  
सम्प्रज्ञातयोगः  
(१) वितर्कानुगतः ५  
(२) विचारानुगतः ५  
(३) आनन्दानुगतः ५  
(४) अस्मितानुगतः ५  
सम्प्रज्ञातयोगप्रपञ्चः ५-६  
सम्प्रज्ञातयोगसाधनानि १६  
सम्प्रज्ञ तयोगस्य चातुर्विध्यम् ५  
सम्प्रज्ञातयोगस्य दृष्टं फलम् ३  
सम्प्रज्ञातयोगस्य मोक्षहेतुत्वम् १  
सम्प्रज्ञातयोगस्यावान्तरभेदाः ५  
सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातयोगयोः फलम् ३-४

सम्प्रज्ञातयोगाः

—सर्वीजयोगाः ८

सम्प्रज्ञातयोगिनः

चतुर्भूमिकाः ८

प्रथमकल्पिकः ८

मधुभूमिकः ८

प्रज्ञाज्योतिः अतिक्रान्तभावनीयः ६

सविकल्पा समापत्तिः

परप्रत्यक्षम् ८

सवितर्का समापत्तिः,

अपरप्रत्यक्षम् ८

सविचारसमापत्तिः ८

साङ्ख्यं विवेकसाक्षात्कारः ११

सिद्धयः (अष्टौ) ३१

ग्राह्यसंयमस्य सिद्धयः ३२

ग्रहणसंयमस्य सिद्धयः ३२

जन्मादिसिद्धयः ३४

सिद्धयः पञ्चप्रकाराः ३४

सिद्धयः (संयमस्य) ३०

ग्रहीतृसंयमस्य सिद्धिद्वयम् ३३

ग्रहीतृसंयमस्य सिद्धयः ३२

सिद्धिप्रकारः ३३

सूक्ष्मशब्देन तन्मात्राहङ्कारमहत्तत्त्व-

प्रकृतीनां ग्रहणम् ६

स्थूलादिषु दोषदृष्टिः ५

सूक्ष्माकारग्रहणो भावनाप्रकारः ६

स्थूलशब्देन भूतेन्द्रियग्रहणम् ५

स्थितिः १३

स्पर्शसंविद् १५

स्मृतिः १, ६

स्फोटः ३७

स्वाध्यायः २०











## NEW RELEASES : E.B.L. ORIENTAL SERIES

1. THE ĀRYABHATĪYA (with the Commentary of Bhatadīpikā of Paramādīśvara—Ed. by Dr. H. KERN (1990) 225.00
2. KHAROṢṬHĪ SCRIPT—S. J. Mangalam (1990) 225.00
3. गद्यकाव्यसमीक्षा—प्रो० हरिनारायण दीक्षित (1989) 150.00
4. प्रसाद-काव्य में ध्वनि-तत्त्व—डॉ० मानवेन्द्र पाठक (1990) 220.00
5. भारतीय मूर्तिकला का इतिहास—डॉ० वीणा पवन (1990) 250.00
6. AMBEDKAR ON BUDDHIST CONVERSION AND ITS IMPACT—Ed. Prof. Sanghasen Singh (1990) 300.00
7. THE ORIGIN AND NATURE OF ANCIENT INDIAN BUDDHISM—Dr. K.T.S. Sarao (1989) 300.00
8. संस्कृत साहित्य में राजनीति : श्रीकृष्ण और चारुण्य के सन्दर्भ में —  
डॉ० किरण टण्डन (1990) 300.00
9. YUKTIDĪPIKĀ—Dr. Shiv Kumar & Dr. D.N. Bhargava (1990) 180.00
10. भारत की प्रमुख चित्र-शैलियाँ—एम० एस० मावड़ी (1989) 150.00
11. VYUTPATTIVĀDA—Dr. V.P. Bhatta (1990) 250.00
12. कालिदास की तिथि संशुद्धि—डॉ० राम चन्द्र तिवारी (1989) 300.00
13. GLORY OF KNOWLEDGE : PROF. RAM MURTI SHARMA FELICITATION VOLUME  
—Ed. Priti Sharma (1990) 600.00
14. कालिदास-साहित्य एवं सङ्गीत-कला—डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ (१९८९)  
280.00
15. कालिदास-साहित्य एवं पशु-पक्षि सङ्गीत—डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ (1990)  
250.00
16. वैदिक देवता दर्शन—प्रो० पी० डी० अग्निहोत्री (भाग I, 1989)  
150.00
17. बृहदारण्यकोपनिषद् एक अध्ययन—डॉ० मनुदेव बन्धु (१९९०) 120.00

## Eastern Book Linkers

5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar, Delhi-7